UPNUL/2013/51445
अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित

ISSN 2277-5854
UGC CARE LISTED

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक
प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
वरिष्ठ शोध अध्येता,
(भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्)
पूर्व-समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र व
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 13 अङ्क 1

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

Website Link : https://shreevidyasadhanapeeth.com/home/our_pooja

अगस्त, **2023**

सम्पादक :

प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान

प्रकाशन विभाग

श्रीविद्यासाधनापीठ

शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी

दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445

ISSN. 2277-5854

UGC Approved Journal (No. 40949)

UGC CARE-listed

सङ्गणकटङ्कित :

विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :

स्टार लाईन

सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

प्रो. एस. सुदर्शन शर्मा, पूर्व-कुलपति, श्री वेंकटेश्वर वैदिक विश्वविद्यालय, तिरुपति।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी, कुलाधिपति, महात्मा गान्धी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

प्रो. युगल किशोर मिश्र, पूर्व-कुलपति, ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र, प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी-221005

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, सदस्य, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, महरौली-बदरपुर रोड, नई दिल्ली-110062

प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस, कालिदास प्रोफेसर एवं पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

प्रो. शीतलाप्रसाद पांडेय, पूर्व-अध्यक्ष, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या, धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा, अध्यक्ष, वेद विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

प्रो. रवीन्द्रनाथ भट्टाचार्य, संस्कृत विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता-700073

प्रो. चन्द्रकान्ता राय, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी,-221002

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854
Peer Reviewed & referred UGC CARE LISTED

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor
Sri Dattātreyānandanāth
(Sitaram Kaviraj)

Editor
Prof. Rajendra Prasad Sharma
Sinior Fellow
(Indian Council of Philosophical Research)
Ex-Co-ordinator (UGC CAS)
Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 13 अङ्क 1

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

Website Link : https://shreevidyasadhanapeeth.com/home/our_pooja

August, 2023

Editor :
Prof. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	
शोधलेख			
1.	ऋक्संहितायामात्मचिन्तनविमर्शः	डॉ. कल्याण–पण्डाः	1–13
2.	चरक संहिता में आत्मा के करणाभाव(जीवन्मुक्त अवस्था) का विमर्श	डॉ. विश्वावसु गौड एवं (म.म. राष्ट्रपति–सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़	14–21
3.	ब्रह्म विद्या (ज्ञान) है तथा माया अविद्या (विज्ञान) है	आचार्य गुलाब कोठारी	22–24
4.	*ब्रह्मपुराणे* ईश्वरतत्त्वम्	डॉ. मौमिता–वन्द्योपाध्यायः	25–28
5.	जगदुद्भवकारिणी सर्वाराध्या उषा देवता	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	29–37
6.	गोपीचन्दन उपनिषद् का सारार्थविचार	डॉ. शुभ्रजित् सेन एवं डॉ. शान्तिगोपाल दास	38–41
7.	नाथ पन्थ का दर्शन एवं साधना	डॉ. आदित्य आंगिरस	42–52

8.	बाणभट्ट की अमरकृति *चण्डीशतकम्* का पाठालोचन	डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय	53–59
9.	शिवगीता का समीक्षात्मक अध्ययन	प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	60–63
10.	अवधूतगीता का प्रतिपाद्य	डॉ. समीर कुमार	64–66
11.	शारीरिकशुद्धौ मानसिक–आध्यात्मिकविकासे च योगशास्त्रस्य भूमिका	प्रो. सुशिमः दुबे डॉ.मधुसूदनः दासः	67–80
12.	नैतिक उत्थान का सोपान : अष्टांगिक योग का शौच	डॉ. नीलम	81–83
13.	Psychosocial Concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama for Promoting Well-being in Contemporary Life	Aswini Sham Tikhe, Dr. Akhilesh Kumar Singh and Dr. Sham Ganpat Tikhe	84–96
14.	*The Bhagavad Gita's* function in the process of philosophical counselling for easing student's stress and anxiety in reference to *Sankhya Yog*	Papori Bordoloi	97–104

सम्पादकीय

परम सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

इस अङ्क के प्रथम आलेख 'ऋक्संहितायामात्मचिन्तनविमर्शः' में डॉ. कल्याण-पण्डा ने ऋग्वेद के दार्शनिक चिन्तन का विस्तृत विश्लेषण करते हुए आत्मचिन्तन को विशेष सुस्पष्ट किया है। वैदिक चिन्तन अध्यात्म केन्द्रित रहा है इसके विविध सूक्त बीज रूप में आध्यात्मिक चिन्तन प्रस्तुत करते हैं इनकी शाक्त दर्शन की भूमिका उत्तम रूप से विवेचित हुई है। अत: सादर साधुवाद।

द्वितीय आलेख 'चरक संहिता में आत्मा के करणाभाव(जीवन्मुक्त अवस्था) का विमर्श' में डॉ. विश्वावसु गौड एवं (म.म. राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़ ने जीवन्मुक्त अवस्था का विवेचन आयुर्वेदीय ग्रन्थरत्न चरकसंहिता के आधार पर किया है। इन्द्रियवियोग ही जीवन्मुक्त अवस्था का प्रथम सोपान है। यह विवरण साधकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और वैज्ञानिक है। अत: सादर प्रणाम एवं धन्यवाद।

तृतीय आलेख 'ब्रह्म अविद्या (ज्ञान) है तथा माया (अविद्या) विज्ञान है' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के प्रख्यात मनीषी आचार्य गुलाब कोठारी ने विद्या एवं अविद्या की वैदिक मीमांसा प्रस्तुत की है। वस्तुत: ब्रह्म विद्या रूप होने से ज्ञान है तथा माया अविद्या रूप होने से उसका कर्म है। इन दोनों में अभेद सम्बन्ध है। यह आलेख वैदिक रहस्यों को उन्मीलित करता है जो गहन एवं अद्भुत है। अत: सादर प्रणाम व अभिनन्दन। चतुर्थ आलेख '*ब्रह्मपुराणे* ईश्वरतत्त्वम्' में डॉ. मौमिता-वन्द्योपाध्यायः ने ब्रह्मपुराण में परिभाषित ईश्वर तत्त्व की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया है। एतदर्थ सादर साधुवाद।

पञ्चम आलेख 'जगदुद्भवकारिणी सर्वाराध्या उषा देवता' में डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने वैदिक साहित्य में गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करते हुए उषा देवता की विशेषता सुस्पष्ट की है। वैदिक वाङ्मय में प्रमुखतया स्त्री देवता के रूप में उषा की महिमा अपरम्पार है। अत: सादर नमन। षष्ठ आलेख 'गोपीचन्दन उपनिषद् का सारार्थविचार' में डॉ. शुभ्रजित् सेन एवं डॉ. शान्तिगोपाल दास ने वैष्णव वेदान्त दर्शन में ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक तथा गोपीचन्दन की प्रधानता निरूपित की है। इनका मार्मिक रहस्य गोपीचन्दन उपनिषद् के आधार पर किया है। एतदर्थ सादर साधुवाद।

सप्तम आलेख 'नाथ पन्थ का दर्शन एवं साधना' में डॉ. आदित्य आंगिरस ने नाथपन्थ की परम्परा एवं उसका वैशिष्ट्य तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत कर सराहनीय कार्य किया है। इनकी आलोचनात्मक दृष्टि से नाथ पन्थ की साधना एवं दर्शन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अत: सादर साधुवाद।

अष्टम आलेख 'बाणभट्ट की अमरकृति *चण्डीशतकम्* का पाठालोचन' में डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय ने चण्डीशतक की अनेक टीकाओं तथा पाण्डुलिपियों के आधार पर उत्तम शोध कार्य किया है। चण्डीशतक की मीमांसा इसके उपयोगी पक्ष पर प्रकाश डालती है। यह स्तोत्र इतिहास में बड़ा प्रसिद्ध रहा है। इस महनीय कार्य के सम्पादन होने पर सादर प्रणाम एवं अभिनन्दन।

नवम आलेख 'शिवगीता का समीक्षात्मक अध्ययन' में प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा ने पद्मपुराणोक्त गीता के प्रधान विषय का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। शिव वैदिक, पौराणिक एवं आगमिक साहित्य में प्रधान परमेश्वर माने जाते हैं। अत: इसका विवेचन आवश्यक है।

दशम आलेख 'अवधूतगीता का प्रतिपाद्य' में डॉ. समीर कुमार ने ज्ञान वैराग्य प्रधान अवधूत गीता के मन्तव्य को सुस्पष्ट करने का विनम्र प्रयास किया है। अत: शुभाशीष व वर्धापन।

एकादश आलेख 'शारीरिकशुद्धौ मानसिक-आध्यात्मिकविकासे च योगशास्त्रस्य भूमिका' में प्रो. सुशिम दुबे एवं डॉ.मधुसूदन दास ने योग एवं आयुर्वेदीय ग्रन्थों के गहन अध्ययन को प्रस्तुत करते हुए शारीरिक शुद्धि का अविस्मरणीय विवेचन किया है तथा योग की मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास की मुख्य भूमिका सुस्पष्ट की है। ग्रन्थाधारित विवेचन होने से यह लेख योगदर्शन की विशेषता को सर्वथा प्रकाशित करता है। इस महनीय कार्य हेतु इनका सादर अभिनन्दन व वन्दन।

द्वादश आलेख 'नैतिक उत्थान का सोपान : अष्टांगिक योग का शौच' में डॉ. नीलम ने अष्टाङ्ग योग के शौच का संक्षिप्त विवेचन किया है। अत: सादर साधुवाद।

त्रयोदश आलेख 'Psychosocial Concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama for Promoting Well-being in Contemporary Life' में Aswini Sham Tikhe, Dr. Akhilesh Kumar Singh and Dr. Sham Ganpat Tikhe ने योगसूत्र के समापत्ति, समाधि तथा संयम को मानसिकी सम्प्रत्यय के रूप में समीक्षा प्रस्तुत की है। आज के समकालीन जीवन में इनके महत्त्व की गम्भीर मीमांसा प्रस्तुत की है। इस महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय शोधकार्य करने पर लेखकत्रयी का सादर साधुवाद।

अन्तिम आलेख 'The Bhagavad Gita's function in the process of philosophical counselling for easing student's stress and anxiety in reference to Sankhya Yog' में Papori Bordoloi ने भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में वर्णित सांख्ययोग के आधार पर दार्शनिक विमर्श प्रस्तुत किया है तथा इससे मानसिक परामर्श के द्वारा सन्ताप को दूर करने का प्रयास निरूपित हुआ है। अत: सादर साधुवाद।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

ऋक्संहितायामात्मचिन्तनविमर्शः

डॉ. कल्याण-पण्डाः

मूलप्रबन्धः

मनुष्यः स्वभावतः मननशीलः, 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' इति तन्निरुक्तिः। स हि कोऽहं कस्मादहमित्यादि-भावनया सततं भावयन् **'आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'**[1] इति दर्शनबीजमुद्भावितवान्। दर्शनस्यास्य उदय ऋक्संहितातोऽजायत इति सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे प्रतीयते।

निखिलवैदिकसाहित्यस्य मन्त्रब्राह्मणारण्यकोपनिषदश्चेति स्तरचतुष्टयम्। मन्त्रब्राह्मणयोर्विषयविन्यासो यागयज्ञादिविविधकर्मतत्त्वसंश्लिष्टः। तत्र ऐहिकपारलौकिकादिविविधसुखलाभाय पन्थान उपदिष्टाः। एवमारण्यकोपनिषत्सु उपलभ्यते परमज्ञानतत्त्वानामालोचनम्। अतो विद्वत्संसदि प्रचलिता भावनेयं यन्मन्त्रब्राह्मणात्मकं हि वेदस्य कर्मकाण्डं तथा आरण्यकोपनिषदात्मकं हि ज्ञानकाण्डम्। अस्यां भावनायां कारणं हि ऐहिकस्य धर्मार्थकामरूपत्रिवर्गस्य प्रतिपादनं वैदिकसाहित्यस्य मुख्यलक्ष्यमिति यथा कर्ममीमांसकानां मतिस्तथा पारलौकिकस्य स्वर्गादेः मोक्षस्यात्मज्ञानलाभस्य च प्रतिपादनं वैदिकसाहित्यस्य मुख्यलक्ष्यमिति ज्ञानमीमांसकानां वेदान्तिनां वा मतम्। केचन एवमपि वदन्ति यत् मन्त्रभागो ज्ञानकाण्डपरो ब्राह्मणभागश्च कर्मकाण्डपरकः। केषाञ्चन पण्डितानामियमपि मतिर्यन् मन्त्रारण्यकोपनिषदां ज्ञानकाण्डत्वं ब्राह्मणस्य च कर्मकाण्डात्मकत्वं ब्राह्मणेषु यागयज्ञादिकर्मानुष्ठानानां सुष्ठु प्रतिपादितत्वात्। केचन धुरन्धरा वेदनिष्णातास्तु कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डञ्चेति द्विकं वेदभागमस्वीकुर्वन्तः समग्रवेदमेव अखण्डज्ञानराशिरूपेणाहुः।

अत्रेदमवधेयं यदात्मज्ञानलाभेन मोक्षप्राप्तिः निखिलदर्शनस्य निखिलवेदस्य च चरमं परमं च लक्ष्यम्। तथा हि वैदिककर्मकाण्डानुसारं धर्मार्थकामरूपस्य ऐहिकस्य त्रिवर्गस्य सम्यगनुष्ठानेनापि आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्न भवति, मोक्षश्च नाधिगम्यते पुरुषैः। वैदिककर्मकाण्डात्मकयागयज्ञाद्यनुष्ठानजन्यदेवताप्रीत्या विविधभोग्यवस्तु-लाभाय ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादीष्टविषयाणामाप्तौ यत्ने क्रियमाणे यद्यपि धर्मार्थकामरूपः त्रिवर्गोऽधिगम्यते परं तन्न चिराय भवति। यागयज्ञाद्यात्मकवैदिककर्मकाण्डस्यानुष्ठानरूपपुण्यफलेन यत्स्वर्गादिफलं लभ्यते तत्तु क्षीणे पुण्ये नश्यत्येव। तदुक्तं भगवता श्रीकृष्णेन गीतायां स्वयमेव **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**[2] इति। अत आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपत्रिविधदुःखस्यात्यन्तिकनिवृत्तये परमानन्दावाप्तये मोक्षालाभायात्माज्ञान-लाभाय वा तत्त्वज्ञानमेव शरणम्। आत्मज्ञानरूपतत्त्वज्ञानेनैव मुक्तिर्लभ्यते। यथोक्तमात्मतत्त्वविवेके उदयनाचार्येण **'आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेयः'**[3] इति।

कर्मकाण्डानुशीलनैः ऐहिकपारलौकिकादिसुखोपभोगेन सम्यक्तया धर्मार्थकामादित्रिवर्गसेवायां कृतायामपि ऋषिभिरुपलब्धमेतद्यद् धर्मार्थकामैः आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्न सम्भवति। अनित्या खलु धर्मार्थकामादयः न नित्यसुखाय कल्पन्ते। परमपुरुषार्थस्तावत् दुःखस्यैकान्तिकी निवृत्तिः शाश्वतसुखप्राप्तिश्च। दुःखस्य मूलं तावदज्ञानम्। आलोकेन यथा तमसोऽपनोदनं सम्भवति तथैव ज्ञानेनाज्ञानं विनश्यति। उच्यते च गीतायां – **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन!'**[4] इति। पुनश्चोदितं गीतायां **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** इति। यथार्थज्ञानञ्चात्मज्ञानम्। आत्मज्ञानमेव परा विद्या। उपनिषदि तदाम्नातम् – **'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'**[5] इति। पराविद्यया एवामृतत्त्वं लभ्यते। आम्नातं केनोपनिषदि— **'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'** इति। आत्मभिन्नानां सर्वेषामवस्तुत्वादात्मज्ञानमेव तत्त्वज्ञानम्। ऋग्वेदीयमन्त्रभागे राराज्यमानेषु सूक्तेषु आत्मज्ञानस्वरूपप्रकाशिका दार्शनिकभावना प्राधान्येन दरीदृश्यते नासदीये पुरुषे देवीसूक्ते हिरण्यगर्भे इन्द्रे रात्रौ अघमर्षणसूक्ते च। न केवलमेतानि सूक्तानि अपि तु सन्ति ऋक्संहितायामनेकानि सूक्तानि नैका मन्त्राश्च यत्र दर्शनशास्त्राणां मुख्यप्रतिपाद्यविषयीभूतानि सृष्टिकार्यकारणज्ञाप्यज्ञापकप्रमाप्रमाणबन्धमोक्षादितत्त्वानि बीजाकारेण निहितानि। तान्येव सूक्तानि, तानेव मन्त्रान् मन्त्रांशान् वा आश्रित्य वेदोत्तरकालीने काले कपिलगौतमादिदार्शनिकैः स्वेषां दार्शनिकग्रन्थेषु दार्शनिकतत्त्वानि विविधभावेनालोचितानि। तस्मादेव कपिलादि-दार्शनिकैः स्वेषां दार्शनिकग्रन्थेषु प्रतिपाद्यतत्त्वानां दार्ढ्याय ज्ञानाकरं वेदं तथा वैदिकमन्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वमेव परमप्रमाणरूपेणोल्लिख्यन्ते प्रसङ्गाच्च वैदिकमन्त्रो मन्त्रांशो वा उद्दिध्रयन्ते स्थाने स्थाने। समेषां दार्शनिकानां विचारे इतरवेदापेक्षया ऋग्वेदस्य मन्त्रभागेष्वेव सर्वविधदार्शनिकतत्त्वानां बीजं निहितमिति सिद्धान्तः।

आत्मचिन्ता *ऋग्वेदसंहितायाम्*

अत्यते गम्यते ज्ञायते इति विग्रहेण 'अत गतौ' इति गत्यर्थकाद् अततेर्धातोः 'सातिभ्यां मनिन्-मनिणौ' इत्युणादिसूत्रेण मनिन्-प्रत्यये आत्मन्-शब्दो निष्पन्नः। बह्वर्थकोऽयमात्मशब्दः। तथा हि भैमीभणितिः –

आत्मा पुंसि स्वभावे च प्रयत्नमनसोरपि।
धृतावपि मनीषायां शरीरब्रह्मणोरपि।।[6] इति।

दर्शनशास्त्रे तु अहंपदप्रतिपन्नवस्तुनि आत्मशब्दव्यवहारो लक्ष्यते। अत एव अहंपदप्रत्ययविभेदाद् आत्मतत्त्वमपि दर्शनशास्त्रभेदेन वैविध्योपपन्नम्। तेन शरीरमित्येके, इन्द्रियमित्यपरे, विज्ञानमिति चापरे, केचन च कर्तात्मेति वदन्ति इत्येवं बहुविवादसंवृतस्वरूपोऽयमात्मा दुर्ज्ञेयो ज्ञानामज्ञानां का कथा?

एक एवात्मा ब्रह्म वा ऋक्संहितायां बहुरूपेण बहुभावेन बहुनाम्ना च कीर्तितः। तथात्वे एकेश्वरवाद एकदेववादो वा ऋक्संहिताया दैवतचिन्ताया अनन्यमनुपममसाधारणञ्च वैशिष्ट्यमिति ध्येयम्। इयमेव एकेश्वरवादधारणा परवर्तिनि काले आत्मरूपेण ब्रह्मरूपेण वा पर्यवसन्ती महीरूहतां गतारण्यकेषूपनिषत्सु भारतीयदर्शनप्रस्थानेषु च। वस्तुतस्तु एकस्यैव देवस्य धारणा ऋक्संहितायां बहुदेववादान्तरेव निहितम्। अत्र दृष्टान्ततया प्रथममण्डलान्तर्गतस्य अस्यवामीयसूक्तस्य मन्त्रोऽयं सविशेषमुल्लेखार्हः—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। [7] इति।

अपि चाम्नायते ऋग्वेदेऽष्टममण्डले—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषा सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।। [8] इति।

अस्यैव मन्त्रस्य प्रतिध्वनिर्दृश्यते *कठोपनिषदि* 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।' इति। आत्मा ब्रह्म वा महान् देवः, यस्य भासा सर्वमिदं प्रतिभासते – 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः। माहाभाग्यान्महैश्वर्याद्वा एकदेवतात्मा परमात्मा एकेश्वरो वा विविधप्रकारैः नामादिभिः विवर्तितः सन् अग्नीन्द्रवरुणपूषादिरूपेण स्तूयत इति दार्शनिकपराकाष्ठैव प्रकाशिता तृतीयमण्डलान्तर्गते विश्वदेवसूक्ते। तत्र प्रतिमन्त्रान्ते 'महद्देवानामसुरस्त्वमेकम्' इति ध्रुवपदेनात्मनो ब्रह्मणो वा सर्वदेवसमाविर्भावो जात इति विवक्षितार्थः दर्शनेषु बह्वालोचितमेकदेववादमेकेश्वरवादं वा आत्मतत्त्वञ्च व्यञ्जयतीत्यत्र नास्ति संशयलेशः। मायाच्छन्नो जीवः तं विश्वकर्माणं नोपलब्धुं शक्यते। नीहारेण प्रावृता मनुष्या यथा बहुधा विजल्पन्ति तद्वन्मायाच्छन्नोऽपि जीवः तत्स्वरूपं नाभ्युपगम्य विविधसूक्तोच्चारणरूपजल्पनैः विजल्पते। तदाम्नातं

न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरा बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाह सुतृप् उक्थनासश्चरन्ति।। [9] इति।

ऋग्वेदस्येदमेवानन्यं वैशिष्ट्यं यत्तत्र कर्मकाण्डविषयवर्णनाया अवसरे क्वचित् क्वचिद् दार्शनिकचिन्ताप्रसूनानि इत्थं प्रस्फुटितानि यत्तु नितरामेव परम् आविर्भूतानाम् उपनिषदामास्तिकदर्शनानाञ्च बीजरूपाणीति सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे प्रतीयन्ते। प्रथममण्डलादारभ्य दशममण्डलावधि कर्मकाण्डविषयवर्णनोपेतमपि मध्ये मध्ये मन्त्रेषु क्षणप्रभायाः सौदामिन्या इव दार्शनिकचिन्तायाः प्रकाशः सुतरां समुल्लेखार्हः। विहङ्गमदृष्ट्या तदुल्लिखितुमुत्सहे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।। [10] इति।

इतीयमृग् *ऋग्वेदस्य* प्रथममण्डलान्तर्गते चतुःषष्ट्यधिकशततमे सूक्ते विलसति। अत्राशयो हि पक्षिणौ एकमेव वृक्षमधिवसतः। तयोः पक्षिणोः एकं स्वादु पिप्पलफलमश्नाति, इतरश्च नाशनन् अवलोकयति केवलम्। सायणभगवत्पादमते मन्त्रोऽयं रूपकः। तन्मते पक्षिणोः मध्ये एको जीवात्मरूपो यस्तु पिप्पलफलरूपं कर्मफलमश्नाति। अपरश्च सदैव विलोकनात्मकः परमात्मरूपो विहगो यस्तु साक्षिस्वरूपः। एकस्मिन् जीवदेहरूपे वृक्षे जीवात्मपरमात्मरूपयोः विहगयोः सहावस्थानम्। अतस्तयोः सखात्वमित ज्ञेयम्। सांख्ययोगवेदान्तेषु पुरुषतत्त्वस्य वा परब्रह्मणः वा परमात्मनो यत् साक्षिस्वरूपमुद्घाटितं तदेवास्मिन् मन्त्रे

बीजाकारेण निहितमिति सायणाचार्यकृतभाष्यादेव स्पष्टं प्रतीतम्। किञ्च जीवात्मनः कर्मफलभोगाधिकारित्व-विषये आस्तिकदर्शनेषु यदालोचितं तदेवास्मिन् मन्त्रे सोपमया समुपवर्णितमिति निश्चप्रचमेव वक्तुं शक्यते। आत्मा एको वानेको वेति जिज्ञासा सूक्तेऽस्मिन् प्राप्यते। तथा हि—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भषन्निमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।।[11]

इति समाम्नाते मन्त्रे जन्मरहितरूपेण अवस्थितस्य परब्रह्मणः परमात्मनो वा नानाविकारभाजि जगति किम् एकमात्मकमस्तीति प्रश्नः समुत्थापितः। सर्वेषु वस्तुषु एकमेवात्मचैतन्यम् अनुस्यूतमित्येवम्विधादार्शनिकचिन्ता एव मन्त्रे सायणाचार्यादिव्याख्याकारणामभिमता। तथा हि भाषितं सायणेन मन्त्रभाष्येऽस्मिन् **"तस्याजस्य परब्रह्मणो रूपे नानाविकारभाजि जगति किमपि स्विदेकमेकात्मकमस्तीति प्रश्नः। अविशेषमस्ति नाममात्रमेक-रूपमस्तीत्युत्तरविवक्षया प्रश्नः। अस्तीत्येवोपलब्धमिति श्रुतेः।। "**[12] इति।

दर्शनेषु जीवदेहस्य विनाशशीलत्वं मरणधर्मिता वा प्रतिपादिता। परन्तु नित्यस्य जीवात्मनो देहिनो वा मरणं विनाशो वा नास्ति। तथा हि श्रीमद्भगवद्गीतायामुच्यते भगवता श्रीकृष्णेन—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।[13] इति।

अयमेव भावः वर्णितः अस्यवामीयसूक्तस्यास्मिन् मन्त्रे

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पत्स्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।।[14] **इति।**

मन्त्रस्यास्य भाष्ये सायणाचार्येणोक्तम् 'अनेन देहस्यासारता जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यत' इति। मन्त्राशयो हि प्राणापगमनादनन्तरं जीवदेहस्य विनाशे सत्यपि अमर्त्यः अमरणस्वभावः देहसम्बन्धी जीवो न विनश्यति।

गीतायाश्चोक्तं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। इति।

द्वितीयो मन्त्रो हि अस्यवामीयसूक्तस्य—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिकयुर्न निचिकयुरन्यम्।।[15] इति।

अमर धर्म आत्मा मरणधर्मणा देहेनावतिष्ठते। सैव सूक्ष्मशरीरोपाधिकः सन्नानाविधकर्म कृत्वा तद्भोगाय जीवसंज्ञां लब्ध्वा स्थूलसूक्ष्मोभयात्मकशरीरत्रयेण सम्बन्धो भूत्वा लोकान्तरेषु सञ्चरति। इदमेव दार्शनिकमात्म-तत्त्वं वर्णितमस्मिन् मन्त्रे। अपि च देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सत्ताकं कैश्चिन्न स्वीकृतम्, केचन वा कर्तृभोक्तृत्वोपेतो देहातिरिक्त आत्मास्ति इति स्वीकुर्वन्ति इत्यादिविषयोऽपि मन्त्रेऽस्मिन् सूपपादित इति वेदविदां राद्धान्तः।

किञ्च **'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'** इति, **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** इति च विश्वदेवसूक्तान्तर्गतमन्त्रांशाभ्याम् आत्मतत्त्वस्य ब्रह्मतत्त्वस्य वा एकेश्वरवादतत्त्वस्य च धारणोद्भूतेति वेदविदां विचारः समुचित एवास्ति। केचन वेदगवेषका पुनः एकेश्वरवादस्य स्पष्टप्रतिभासकत्वेन दशममण्डलस्य द्व्यशीतिसंख्यकं विश्वकर्मासूक्तं निर्दिशन्ति। प्रकृतेर्विविधकार्यजातस्य नियन्तृरूपेण एकमेव परमेश्वरमनुभूय ऋषयस्तमेव विश्वकर्मेत्यभिधाय तस्मिन् एकेश्वरधर्मानारोपयाञ्चक्रुरिति विश्वकर्मणः सूक्तस्यानन्यवैशिष्ट्यं वेदविद आहुः। तस्यैव विश्वकर्मणो व्याप्तिः सर्वत्र। सर्वत एव तस्य चक्षुः, सर्वत एव तदीयं मुखम्, सर्वत एव तदीयबाहुः, सर्वत एव तदीयं पदं च विराजन्ते। तेनैव द्यौः भूमिश्च निर्मिते। उपादानविरहितात् शून्यादेव विश्वकर्मणा विचित्रं भुवनमिदं निर्मितम्। तस्माद्विश्वकर्मा एव केवलं देवो न कश्चिदपरोऽस्ति। सूक्तेऽस्मिन् विश्वकर्मणि एकेश्वरधर्मानारोप्य वर्णितं यत् स एव विधाता, स एव प्राणिजातानां पिता। सप्तर्षिस्थानादुपरि स्थाने तस्य निःसङ्गो निवासः। स एव विविधदेवनामानि कार्यानुसारं धत्ते। जगदिदं सर्वं विश्वकर्मणैव सृष्टम्। **"अपाङ् प्राङेति---"** इत्यादिमन्त्रे देहात्मविषये वर्णितम्। तयोरन्यस्य जीवात्मनः पारमार्थिकं रूपमस्ति, तदेवोच्यते परस्मिन् मन्त्रे –

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।। [16] इति।

अक्षरशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वमुपनिषत्सु वेदान्तादिदर्शनेषु च प्रतिपादितम्। मन्त्रेऽस्मिन्नपि तदेव समासतः प्रतिपादितमिति सायणाचार्यादिभाष्यकारा व्याख्यातवन्तः। सायणभाष्यात् प्रतीयते यदक्षरस्वरूपज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानमात्मज्ञानं वा। अक्षरस्वरूपज्ञानाभावे कृतेऽपि यज्ञकर्मनिचये मुक्तिर्न भवितेति निष्कर्षः सुतरां लभ्यते। अक्षरस्वरूपज्ञानोपलब्ध्या छिन्ने कर्मबन्धने जीवस्य मुक्तिर्भवितेति दार्शनिकचिन्ता मन्त्रेऽस्मिन् प्रस्फुटिता।

विश्वकर्मासूक्तम्

एकेश्वरवादस्य धारणा ऋग्वेदस्य दशमण्डलान्तर्गते द्व्यशीतिसंख्यके विश्वकर्मसूक्ते प्रकाशिता। तत्राम्नाते

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेदभुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।। [17]

इति मन्त्रे वर्णितं यतद्योऽस्माकं जनकः, यो विधाता, येन च विश्वभुवनस्य सर्वाणि धामानि अवगतानि, य एकोऽपि सन् सर्वदेवानां नामानि धारयन् बहुर्भवति, तमेव ज्ञातुमुपलब्धुं वा सर्वे प्रश्नमन्तो भवन्ति। वस्तुतस्तु निखिलप्रपञ्चस्यास्य चेतनाचेतनयोः वस्तुनोर्मध्ये एकस्यैव परब्रह्मपरमात्मनोरधिष्ठानमिति दार्शनिकतत्त्वमेव मन्त्रेऽस्मिन् प्रकाशितमिति आशयोऽत्र बोद्धव्यः।

जीवात्मसूक्तम्

ऋग्वेदीयदशममण्डलस्य सप्तसप्तत्यधिकशततमं सूक्तं दार्शनिकचिन्तासमृद्धसूक्तरूपेण प्रसिद्धिं गतम्। तत्र सूक्तविषयो जीवात्मा, देवता माया, ऋषिश्च पतङ्गनामात्मकः। आम्नातश्च ऋषिणा—

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तःकवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः।।

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्तितां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो निपान्ति।।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ रवीर्वर्ति भुवनेष्वन्तः।। [18] इति।

सरलार्थस्त्वेवं विद्वांसो निरुद्धेन मनसा पतङ्गमेकं ददृशुः। असुरस्य माया तं पतङ्गमाक्रमति स्म। समुद्रमध्ये एवेदं संघटितम्। तस्माद् विद्वांसो वेधसो मरीचीनां धामसु गन्तुमिष्टवन्तः। स पतङ्गो मनसा वाचं बिभर्ति। तां वाचं गर्भमध्ये देवता अवदत्। सैव वाग्दिव्या। विद्वांसस्तामेव वाचमध्यापनेन पितरम् ऋतस्य स्थाने रक्षन्ति, सर्वदा उच्चैर्गच्छति, न कदापि नीचैः पतति। एवम्विधोऽस्ति कश्चिद् देवो यस्तु नानामार्गेऽपि विचरति। क्वचित् सः अनेकं वसानं युगपत् परिधत्ते, क्वचिद्वा पृथक् पृथक् परिधत्ते। इत्थं स देवो विश्वसंसारेऽस्मिन् वारं वारमावर्तते। स हि देवो सूर्यो वा आदित्यो वेति याज्ञिकानां मतम्। सायणाचार्यादिभाष्यकाराणां मते अत्र जीवात्मपरमात्मनोरभिन्नत्वं रूपकेण वर्णितम्। आत्मदेवो हि सूक्तेऽस्मिन् स्तूयते। तस्माद् दार्शनिकदृष्ट्या सूक्तस्यास्य गुरुत्वं गरीयः।

हंसवती ऋक्

ऋग्वेदस्य चतुर्थमण्डलान्तर्गतस्य चत्वारिंशत्तमे सूक्ते विद्यमाना ऋक् हंसवतीति नाम्ना प्रसिद्धिमगात्। अनया ऋचा परब्रह्मैव प्रतिपद्यते। अविद्यात्मककार्यजातस्य हरणात् परब्रह्मैवात्र मन्त्रे हंसपदेन विवक्षितः। स मन्त्रो हि—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजाद्रिजा ऋतम्।। [19] इति।

मन्त्रस्यास्य सरलार्थो हि हंसो दीप्ते द्युलोके अवतिष्ठति। तस्मात् स हंसः शुचिषदिति कथ्यते। वसुः सर्वस्य वासयिता, वायुरन्तरीक्षे अवस्थानाद् अन्तरीक्षसत्। होता देवानाम् आह्वाता होमनिष्पादको वा यज्ञवेद्यां गार्हपत्यादिरूपेण वर्तमानाद् वेदिषदिति कथ्यते। अतिथिवत् सर्वदा पूज्यः अग्निः पाकादिसाधनत्वेन दुरोणे गृहे स्थितत्वाद् दुरोणसत्। परमात्मा परब्रह्म वा मनुष्येषु चैतन्यरूपेण सीदतीति नृषत्। किञ्च सैव परमात्मा परब्रह्म वा वरणीये मण्डले सीदतीति वरसदादित्यः। अपि च स ऋते सत्ये ब्रह्मणि यज्ञे वा सीदतीति ऋतसदग्निरूपः। एवं स परमात्मा व्योम्नि अन्तरीक्षे सीदतीति व्योमसद्वायुरूपः। स एव परमात्मा मन्त्रेऽस्मिन् आदित्यरूपेण प्रतिपन्नः। तेनासौ आदित्यअब्जा उदकेषु जातः, गोजा गोषु रश्मिषु जातः, ऋतजा सत्यजातः, अद्रिजा अद्रौ उदयाचले जातश्च। किञ्चासौ आदित्य उदकेषु विद्युद्रूपेण वा वाडवरूपेण वा जातः। आदित्यस्य उक्तरूपत्वं हंसः शुचिषदित्येष वै **"हंसः शुचिषद्"** इत्यादिना ऐतरेयब्राह्मणे समाम्नातम्। भाष्यकारस्य सायणाचार्यस्य मते आदित्यमध्ये हिरण्मयः पुरुषरूपो यो मण्डलाभिमानो देवोऽस्ति, यश्च सर्वप्राणिनां चित्तरूपेण स्थितः परमात्मा अस्ति, यश्च सर्वोपाधिरहितः परमात्मा परब्रह्म विद्यते, तत् सर्वमेकमेवेति अनेन मन्त्रेण प्रतिपादितम्। अत एवाह सायणभगवत्पादः **"अनया सौर्यचा य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः इत्यादिश्रुत्युक्तो मण्डलाभिमानो देवोऽस्ति यश्च सर्वप्राणिचित्तरूपस्थितः परमात्मा, यच्च निरस्तमस्तौपाधिकं परं ब्रह्म तत्सर्वमेकमेवेति प्रतिपाद्यते। हंसः हन्तिर्गत्यर्थः सर्वत्र सर्वदा गन्ता योऽहं सोऽसावित्यादिश्रुत्युक्तप्रकरणैकीकृत्योपास्यः परमात्ममन्त्रप्रतिपाद्य आदित्यः"**इति। स एवादित्यः सद्रूपेण अधिष्ठितमास्ते ऋतरूपेण जागतिकं कार्यजातं नियमयन्नास्ते, बृहद्रूपेण वा भूमारूपेण च सर्वं वस्तुजातं स्वायत्तीकृत्य विराजतेतराम्। तस्मात् स एव सत्यस्वरूपऋतस्वरूपो वा परब्रह्म परमात्मेति मन्त्रस्यास्य द्योतितोऽर्थः। *श्वेताश्वेतरोपनिषदि* वर्णितं यत् त्रिभुवनस्य एक एव हंसः परमात्मा विद्यते। स एव जलपरिणामेऽस्मिन् देहे अग्निरूपेण वर्तमानः। तस्य स्वरूपे उपलब्धे सति साधको मृत्युं तरति। परमपदाप्तौ नान्यः पन्था विद्यते। अतः **"आत्मानं विद्धि"**इति श्रुतिवाक्यमेवास्माकं शरणं मुक्तौ मोक्षाय वेति सुसङ्गतम्। तथा हि आम्नातं *श्वेताश्वतरोपनिषदि*—

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[20] इति।

देवीसूक्तं वा वाक्सूक्तम्

ऋग्वेदीयसंहितायादशममण्डलान्तर्गते पञ्चविंशत्यधिकशततमे अष्टर्चे देवीसूक्ते वाक्सूक्ते वा दार्शनिकचिन्तायाः परा काष्ठा उपलभ्यते। सूक्तेऽस्मिन् अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी वागाम्भृणी आत्मनो ब्रह्मात्मकतामनुभूय सर्वात्मभावेन स्वात्मानमस्तौत्। अतः सा ऋषिः। सायणाचार्यस्य भाषायां **"सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता। तेन ह्येषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति"**[21] इति। तस्मिन् ब्रह्मतादात्म्यलाभक्षणे वागाम्भृण्या ऋषिकयोपलब्धमेतद्विश्वभुवने चराचरेऽस्मिन् यत्किञ्च तत् सर्वं ब्रह्मैव। अत एव सा ब्रह्मरूपिणी एवेति।

जगत्यस्मिन् एकं परमं चरमञ्च सच्चित्स्वरूपं ब्रह्मतत्त्वं व्यतिरिच्य नान्यत् किञ्चिदपि विराजते। सर्वे जीवा अपि स्वरूपतः सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मैव । एकस्यैव ब्रह्मण उपाध्यवच्छेदेन वसुरुद्रादित्यरूपेण यो नामभेदावभासः स तु मायिको न तु यथार्थः। अतः सा ब्रह्मभूता वागेव रुद्रादिरूपेण विराजत इति भूतार्थः।

माया हि जगदाकारेण ब्रह्मणि विवर्तते। ब्रह्मण्येव कृत्स्नं जगत् शुक्तौ रजत इवाध्यस्तम्। अत इन्द्रादयो भेदा अपि परमात्मनि अध्यस्ता इत्यनुभूयात्मानम् इन्द्रादीनां धारकतया वर्णयति वाक्। शाब्दिकाः पुनः वाचमेव जगत्कारणं मन्यमाना वर्णयन्ति यत् सा वागेव उक्तजनानुकम्पया आत्मप्रशंसां कर्तुं ब्रवीति यद् रुद्रादिदेवास्तस्यैवानुचरास्तथा तयैव विधृता इति। स्तुतिरूपया वाचा एव तेषां देवानां पुष्टिविधानाद् यागे प्रयोज्या मन्त्रा वागात्मकाः। तदाम्नायते तैत्तिरीयब्राह्मणे—

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां मातामृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणामपयज्ञमगादवन्ती देवी सुहव मेऽस्तु।। [22] इति।

काव्यादर्शे च दण्डिना उक्तम्—

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वदा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।। [23] इति।

ब्रह्मात्मिका वागेव अभिषोतव्यं सोममथवा शत्रूनामाहन्तारं दिवि वर्तमानं सोमाख्यं देवं धारयति। किञ्च त्वष्टृनामकं देवं पूषणं देवं भगं देवञ्च स एव बिभर्ति। ब्रह्मात्मिका वागेव यजमानाय यागफलं प्रददाति। स एव सर्वाध्यक्षः कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयति। श्रीमद्भगवद्गीतायाञ्चोक्तं भगवता श्रीकृष्णेन—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।। [24] इति।

आत्मनो ब्रह्मात्मकतामनुभूय आम्भृणी ब्रह्मणो वैश्वरूपत्वमुद्घाटयन्ती आह ब्रह्मरूपाहं सर्वस्य जगत ईश्वरी तथा वसूनां सङ्गमयत्री उपासकानां वा प्रापयित्री। सैव साक्षात् कर्तव्यं परं ब्रह्म स्वात्मतया साक्षात्कृतवती। किञ्च यज्ञार्हानां प्रथमा हि सा ब्रह्मात्मिका वाक्। सा ब्रह्मात्मिका वागेव यज्ञस्थलेषु विविधदेवरूपेणाविर्भवति। यः पुरुषः अन्नमत्ति स तु भोक्तृशक्तिरूपस्य ब्रह्मात्मिकया वाचैवान्नमत्ति इति ज्ञेयम्। यः पुरुषो निरीक्षते, यश्च श्वासोच्छ्वासादिप्राणव्यापारं निष्पादयति, यो वा कथितं शृणोति, ते सर्वे एव दर्शनश्रवणप्राणनादिशक्तिरूपया ब्रह्मात्मिकया वाचैव तत्तत्कार्यं सम्पादयतीति ज्ञेयम्। ये तु ईदृशी अन्तर्यामिरूपेण स्थितां ब्रह्मात्मिकां वाचं न जानन्ति ते तु संसारचक्रे पुनः पुनरावर्तन्ते। श्रद्धयैव ब्रह्मात्मकं वस्तु लभ्यमिति ध्येयम्। तदाम्नातं—

मया सो अन्नमति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधिश्रुतः श्रद्धिवं ते वदामि।।[25] इति।

अत्रेदं तात्पर्यं ब्रह्मशक्त्यैव शक्तिमन्तः सर्वे जीवाःश्वसनाशनदर्शनादिक्रियां निवर्तयन्ति। वस्तुतस्तु तां ब्रह्मशक्तिं विना सर्वं जङ्गममचैतन्यम्। उपनिषदादिदर्शनेषु चायमेव विषयो बहुधा प्रपञ्चितः। न केवलं भारतीयदर्शनेषु पाश्चात्त्यदर्शनेष्वपि परमशक्तिरङ्गीकृता। एतद्विषये आख्यानमिदमुदाहर्तव्यम्। पुरा वायोरग्नेश्च मध्ये तयोः कतरो बलवत्तर इति विषये विवादः समुपजातः। वायुः सबलेन निमेषादेव सर्वं स्थावरं वस्तु उत्पाट्य प्रलयं कर्तुं प्रवहति। अग्निरपि सर्वं जगद् निःशेषं दग्धुं शक्नोति। तदा ब्रह्मशक्तिः मानसीं तनुमाश्रित्य समवतीर्णा तयोर्विरामस्यान्तं कर्तुं तदा वायुरग्निश्च क्रमेण तृणमेकमुत्पाटयितुं दग्धुञ्च न शेकतुस्तथा कर्तुम्। तदा सा स्वपरिचयं विवृण्वाना यत्प्राह तस्य अयमाशयो यद् ब्रह्मशक्त्या अनुग्रहेणैव सर्वे स्वस्वकर्माणि अनुतिष्ठन्ति। अग्निवाय्वोरपि ब्रह्मशक्त्यैव शक्तिमत्त्वमस्ति। तदाम्नातमुपनिषदि—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।[26] इति।

अज्ञानिनस्तु एतदजानन्तोऽहङ्कारं कुर्वन्ति। तदुक्तं गीतायां

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।[27] इति।

सप्तशत्यामपि शंसितं ब्रह्मशक्त्या महामायाया माहात्म्यं—

यच्च किञ्चिच्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे मया।।[28] इति।

ये तु एतत्तत्त्वं न जानन्ति, ते अज्ञानाः पुनः पुनः संसारचक्रपङ्क्तावर्ते आवर्तमाना आवर्तन्ते, न निर्वाणं भजन्ते। सैव ब्रह्मात्मिका वाग् स्वयमेव इन्द्रादिभिर्देवैरपि च मनुष्यैः सेवितमिदं ब्रह्मतत्त्वमुपदिशति। तादृशी ब्रह्मस्वरूपा यं पुरुषं कामयते तं स्रष्टारं करोति, तमेव अतीन्द्रियार्थदर्शिनं सम्पादयति, तमेव च शोभनप्रज्ञं सम्पादयति।

ब्रह्मशक्तिरेवास्य जगतो नियामिका। तत्प्रभावादेव जगदिदं परिवर्तते। वैदुष्यम् ऐश्वर्यमृषित्वमित्येषा सर्वविधा सम्पद् ब्रह्मशक्तिप्रसादादेव पुरुषः समश्नुते। एतदेव ब्रह्मतत्त्वं योऽभिजानाति स न ऋष्यति, ध्रुवं तस्य मोक्षः। अतो हि ब्रह्मतत्त्वमिदं यथा मानुषैस्तथा देवैरपि काङ्क्षितम्। तदेव तत्त्वं विशदयितुं परब्रह्मात्मिकया वाचा भाषितं यत् सा यं प्रति प्रसीदति तं सर्वैरैश्वर्यैर्युनक्ति। प्रसन्ना सा तदुपासकाय क्वचिद् जगदाधिप्यञ्चार्पयति। क्वचिच्च तस्मै ऋषित्वं परं ज्ञानं वा प्रददाति। एवं सा एकैव ब्रह्मशक्तिः क्वचिद् भोगैश्वर्यप्रदा, क्वचिच्च सैव कैवल्यप्रदायिनी। ब्रह्मभूता आम्भृणी वाक् ब्राह्मणानां द्वेष्टारं सर्वं हन्तुं रुद्राय धनुः ज्यायाततं करोति। सैव पुनः स्तोतृजनानां सम्पल्लाभाय शत्रुभिः संग्रामं कृतवती। किञ्च द्युलोकं भूलोकञ्च अन्तर्यामितया ब्रह्मभूता

वागैवाविष्टवती। वस्तुतस्तु ब्रह्म हि सर्वलोकेऽस्मिन् सर्वपदार्थेषु अनुस्यूतम्। सर्वं जगद्ब्रह्मण्येवाध्यस्तमिति निखिलप्रपञ्चस्यास्य ब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मैव सर्वत्रानुप्रविष्टम्। ब्रह्मभूता वागपि तस्मात् कथयति यत् सान्तर्यामितया द्युलोकं भूलोकञ्च प्रविष्टेति। सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात् पुनर्ब्रह्मशक्तिरेव सर्वशक्तिः। ब्रह्मशक्तिरेव सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुभूता। ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादयस्तु ब्रह्मशक्त्यैव सृष्टिस्थितिलयकारिण इति ते केवलं निमित्तभूताः। उच्यते च श्रीमता भगवतार्जुनं प्रति—

मयैव ते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्[29] इति।

ब्रह्मशक्तिरेव पुरा त्रिपुरासुरस्य वधार्थं पिनाकिनः पिनाकं ज्यायुक्तं चकार। पुनश्च सैव रुद्रेन्द्रादिरूपेण शिष्टानामुपासकानां रक्षार्थं दुष्टैर्दानवैः सह युद्धं चकार। तथा ह्युच्यते महामायया महाशक्त्या *सप्तशत्याम्*—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंशयम्।।[30] इति।

अपि चोच्यते-

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते।।

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ।।[31] इति।

श्रीमद्भगवद्गीतायामपि गीतं भगवता श्रीकृष्णेन—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।[32] इति।

ब्रह्म विना अन्या कापि पृथक् सत्ता नास्ति। तेनैव जगदिदं व्याप्तम्। सर्वसृष्टेः मूलकारणं हि ब्रह्म । अतः सर्वेषां निर्मातृरूपेण ब्रह्माणमेवोद्घोषयन्ति वागात्मिका परब्रह्मरूपा आम्भृणी प्राह—

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि।।[33] इति।

वस्तुतस्तु परब्रह्मरूपा वागेव कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोतीति समुद्धृतस्यास्य मन्त्रस्य तात्पर्यम्। परेणाप्रेरितः सन् वातो यथा स्वेच्छयैव प्रवाति, तद्वत् परब्रह्मरूपा वाक् सर्वाणि भूतजातानि कार्याणि

कारणरूपेण उत्पादयन्ती स्वयमेव प्रवर्तते। किञ्च असङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपा सा सर्वजगदात्मना सम्भूतास्ति। तदाम्नायते—

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव।।[34] इति।

वाक्सूक्ते देवीसूक्ते वास्मिन् वाग् ब्रह्मरूपेण कीर्तिता। वाचो ब्रह्मरूपत्वमृग्वेदात् परमाविर्भूतासूपनिषत्सु शब्दशास्त्रेषु च दरीदृश्यते। भर्तृहरिणोक्तम्—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[35] इति।

प्रोक्तञ्च काव्यादर्शे दण्डिना—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्येत।।[36] इति।

तस्माद् वाचो ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनात् सूक्तस्यास्य दार्शनिकत्वं विदुषां चेतः समाकर्षति। किञ्च सूक्तेनानेन शक्तिशक्तिमतोरभिन्नत्वमिति अद्वैतवेदान्तादिदर्शनपल्लवितो वादः स्फुटं प्रकाशं गत इति शेमुषीमतां विचारः। एतत्सर्वं व्यतिरिच्य सूक्तेऽस्मिन् ब्रह्मणो महिमा वर्णितः। नास्ति तस्य प्राकृतं वपुः, केवलं योगिनां योगगम्यं निखिलं जगदेव तस्य मूर्तीरिति ध्येयम्। तदाम्नातं श्वेताश्वतरे **"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः"**[37] इति। अपि चाम्नायते तत्रैव—

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।। इति।।

आत्मज्ञानं ब्रह्मज्ञानं वा जीवस्य जननमरणचक्रपतितदुःखनिवृत्तिहेतुतया व्यपदिष्टो वेदपरवर्तिसमयोद्भूत-दर्शनेषु। परन्तु ज्ञातव्यं यद् ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलान्तर्गतस्यास्यवामीयसूक्तस्य जननमरणदुःखपरिहाराय आत्मा ज्ञातव्या इति निर्देशयन्नाह—

ऋषिः दीर्घतमा—

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श दिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।। इति।

आत्मज्ञानेन ब्रह्मज्ञानेन वा भेदबुद्धिरपास्यते। अज्ञानवशादविवेकवशाद्वा पुरुषेषु भेदबुद्धिरुपचर्यते। मायामयत्वादस्मिन् जगति पुरुषः माययाक्तः सन्नयं निजः परो वेति चिन्तामाश्रयति। अपगते अज्ञाने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः पुरुषः सच्चिदानन्दपरमात्मस्वरूपो भवतीति यत्तत्त्वमुपनिषत्सु अद्वैतवेदान्तादिषु

आस्तिकदर्शनेषु च पल्लवितं तत्तु अस्यवामीयसूक्ते मन्त्रद्वये एवाम्नातम्। किञ्चात्मज्ञानस्य दुर्लभत्वमपि तत्र प्रकटितम्। तत्र प्रथमो मन्त्रो हि

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः।।[38] इति।

केचन वेदभाष्यकाराः 'ऋचो अक्षरे....' इत्यादिमन्त्रे अक्षरशब्देन ॐकारं प्रणवं वा निर्दिशन्ति। प्रणवस्य सर्ववेदसारत्वं ब्राह्मणे श्रुयते। तथा हि *ऐतरेयब्राह्मणे* आम्नायते **'तान्वेदानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्। तदेतदोमिति।'**[39] इति । न हि प्रणवादधिकं किञ्चिन्मन्त्रजातमस्ति त्रिकालातीतस्य ब्रह्मणः प्रतिपादिकत्वात्। तथा ह्याम्नायते *कठोपनिषदि* **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'** इति। *तैत्तिरीयारण्यके* चाम्नातं **'यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ओमिति ब्रह्म'**[40] इति । वेदैः प्रणवस्य स्थानप्रतिनिधिभावः सम्बन्धः। य ऋचोऽधीते इत्याद्युपक्रम्य यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते। तथा च श्रुतिः **'ओमिति प्रतिपद्यत एतद्वै यजुःस्त्रैयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत् परक्षरम्'**[41] इति। प्रणवस्य सर्वमन्त्रान्मकत्वान्मन्त्रेषु सर्वदेवतानां निवासात् सर्वदेवनिवासत्वं सुतरामेव संगतम्। किञ्च ब्रह्मणि सर्वदेवानां निवासात्, ब्रह्मणश्च प्रणवाक्षराधिष्ठानत्वाच्च तज्ज्ञानेन सर्वं ज्ञातं भवेन्मुक्तिश्चोपलभ्यत इति वेदविदां दार्शनिकानाञ्च विचारः स्वारसिक एवेति नात्र सन्देहावसरः।

तथ्यसूत्राणि

1. *बृहदारण्यकोपनिषत्*, तृतीयकाण्डम्
2. *श्रीमद्भगवद्गीता* (9.21)
3. *आत्मतत्त्वविवेकः*
4. *श्रीमद्भगवद्गीता* (4.37)
5. *बृहदारण्यकोपनिषत्*
6. *भैमीव्याख्या*
7. *ऋग्वेदसंहिता* (1.164.46)
8. *ऋग्वेदसंहिता* (8.58.2)
9. *ऋग्वेदसंहिता* (10.82.7)
10. *ऋग्वेदसंहिता* (1.164.20)
11. *ऋग्वेदसंहिता* (1.164.8)
12. *ऋक्संहिता, सायणभाष्यम्*, (1.164.20)
13. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 2
14. *ऋग्वेदसंहिता* (1.164.30)
15. *ऋक्संहिता*, (1.164.2)
16. *ऋग्वेदसंहिता* (1.164.3)
17. *ऋक्संहिता* (10.82.1)
18. *ऋक्संहिता* (10.177.1-3)
19. *ऋक्संहिता* (4.44.1)
20. *श्वेताश्वतरोपनिषत्*
21. *ऋक्संहिता, सायणभाष्यम्* (10.125.1)
22. *तैत्तिरीयब्राह्मणम्*
23. *काव्यादर्शः*
24. *श्रीमद्भगवद्गीता*
25. *ऋक्संहिता* (10.125.8)
26. *कठोपनिषत्*, तृतीयवल्ली, द्वितीयाध्यायः
27. *श्रीमद्भगवद्गीता*, द्वितीयाध्यायः
28. *सप्तशती*, चण्डी
29. *श्रीमद्भगवद्गीता*
30. *सप्तशती*, चण्डी
31. *सप्तशती*, चण्डी
32. *श्रीमद्भगवद्गीता*, अष्टादशाध्यायः

33. *ऋक्संहिता* (10.125.3)
34. *ऋक्संहिता* (10.125.4)
35. *वाक्यपदीयम्*, ब्रह्मकाण्डम्
36. *काव्यादर्शः*, 1.1
37. *श्वेताश्वतरोपनिषत्*
38. *आस्यवामीयसूक्तम्*, (1.164.37)
39. *ऐतरेयब्रह्मणम्*, 5.32
40. *तैत्तिरीयारण्यकम्* , 7.8
41. *तैत्तिरीयारण्यकम्*, 2.11

परिशीलिता ग्रन्थानुक्रमाः

1. *ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः*(शङ्करभाष्यसहिताः), रमाशङ्करपाण्डेयसम्पादिताः, प्रकाशकः मोतिलाल-वनारसी-दास, पुनर्मुद्रणसंस्करण- 2007, दिल्ली।
2. उदयनाचार्यः, *आत्मतत्तविवेकः*, गङ्गानाथ-झा-सम्पादितः, भारतीयविद्याप्रकाशनम्, दिल्ली, संस्करणम्- 1997 ।
3. *ऋग्वेदसंहिता*(खण्डचतुष्टयात्मिका), श्रीमत्सायणाचार्यविरचितमाधवीयवेदार्थप्रकाशसहिता, सम्पादकः- जर्मन्देशोत्पन्न इंलेण्डदेशवास्तव्यः श्रीमन्मोक्षमुलर्भट्टः, प्रकाशकः- ड. सी. गिरि, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, भारतीयसंस्करणम् 2006, नवदेहली, मुद्रकः- चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज्-अफिस्, वाराणसी, उ.प्र.।
4. *तन्त्रवार्तिकम्*, कुमारिलभट्टप्रणीतम्, एसियाटिक्-सोसाईटि, कलिकाता, 1960।
5. भर्तृहरिः, *वाक्यपदीयम्*-ब्रह्मकाण्डम्, श्रीसूर्यनारायणशुक्लेन शास्त्रदीपव्याख्यानेन टिप्पणेन च समलंकृतम्, श्रीगोविन्दशुक्लेनसम्पादितम्, काशीसंस्कृतग्रन्थमाला 128, प्रकाशकः- चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज्-अफिस्, द्वितीयसंस्करणम्, वाराणसी, 2018 ।
6. *श्रीमद्भगवद्गीता*, स्वामि-रामसुखदासः(सम्पा.), गीताप्रेस, गोरक्षपुरम्, उ.प. 2002 ।
7. *सायणमाधवीयः सर्वदर्शनसंग्रहः*, एसियाटिक्-सोसाईटि, कलिकाता, 2002 ।
8. *सप्तशती चण्डी*, स्वामी-जगदीश्वरानन्दसम्पादिता, उद्बोधनकार्यालयः, कलिकाता, 1980, तृतीयसंस्करणम् ।
9. *An introduction of Indian philosophy*- Satish Chandra Chatterjee &Dhirendramohan Dutta, Calcutta, University of Calcutta, 1984 (Reprint).
10. *Patanjali, Yogasutram*, Ed.- Dhundiraj Sāstri, pub.- Choukhamba Sanskrti Sansthan, third Edition, Varanasi. U.P. 2001

डॉ. कल्याण-पण्डाः
पश्चिमबङ्गशासनाधीनेआचार्यब्रजेन्द्रनाथशीलमहाविद्यालये
सुरवाक्संकाये'Assistant Professor' इति पदमधिरूढः
इमेल्-संकेतः -pandakalyan5@gmail.com
दूरभाषसंख्या – 7003358017/8697332052
Address- Flat No D-2, 2nd floor vinayak Appartment,
pioneer park, P.o+P.s- Barasat, District- N24 Parganas,
Kolkata- 700124

चरक संहिता में आत्मा के करणाभाव (जीवन्मुक्त अवस्था) का विमर्श

डॉ. विश्वावसु गौड एवं
(म.म. राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़

महर्षि चरक ने विभिन्न दार्शनिक भावों को अन्य दर्शनों के अनुरूप गृहीत करते हुए भी उन्हें आयुर्वेदीय दृष्टि से किञ्चित् परिवर्तित करते हुए विशेष प्रकार से उपवर्णित किया है। इसे चरकीय दर्शन का वैशिष्ट्य कह सकते हैं। महर्षि चरक ने पुरुष को चतुर्विंशति तत्त्व वाला माना है एवं शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व एवं आत्मा के संयोग को आयु तथा इनके वियोग को आयु का उपरम(विनाश, मृत्यु) माना है। महर्षि चरक ने अव्यक्त से व्यक्त के चक्र को रजोदोष और तमोदोष के द्वन्द्व में परासक्ति का परिणाम मानते हुए दार्शनिक स्वरूप में जीवन-मृत्यु के स्वरूप को स्वीकार किया है। इसी क्रम में वे कहते हैं कि जो विभिन्न उपक्रमों के माध्यम से सत्त्व की अभिवृद्धि कर लेता है और द्वन्द्व की आसक्ति को पराभूत कर लेता है वह इस जीवनचक्र से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है यथा—

पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते॥67॥
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत्परिवर्तते॥68॥
येषां द्वन्द्वे पराशक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा॥69॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1/67-69)*

यहाँ महर्षि चरक स्पष्ट कहते हैं कि जो अहङ्कारपर हैं और जिनकी द्वन्द्व में आसक्ति है उनका उदय (जन्म) एवं प्रलय (मृत्यु) होता रहता है और जो इनसे रहित हैं उनमें यह उदय और प्रलय नहीं होता, यह ठीक वैसा ही स्वरूप है जैसा कि *सांख्यकारिका* में कहा गया है, यथा-

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ *(सांख्यकारिका, 40)*

यहाँ इस कारिका में सूत्ररूप में उदय और प्रलय को निर्दिष्ट किया गया है, जिसे भावार्थ स्वरूप में यों समझा जा सकता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् सूक्ष्म शरीर

उत्पन्न हुआ, सूक्ष्म शरीर असक्त रहता है, वह नियत है और सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर महाप्रलय तक रहता है । महदादिसूक्ष्मपर्यन्त सूक्ष्म शरीर अट्ठारह तत्त्वों से बना है, महत्, अहङ्कार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएं, यह एक स्थूल शरीर को त्याग कर नए स्थूल शरीर को धारण करता है, यही इसका "संसरति" स्वरूप है । स्थूल शरीर के विना यह भोग नहीं कर पाता, कर्मों के भोग के लिए बार-बार स्थूल शरीर को धारण करता है । यह भावों से अधिवासित होता है अर्थात् बुद्धि में 8 भाव होते हैं— धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य । सूक्ष्म शरीर में ये आठ भाव होते हैं । अन्य दर्शनों की तरह ही महर्षि चरक कहते हैं कि सूक्ष्म शरीर सभी योनियों में प्रवेश कर सकता है, इसे दिव्य दृष्टि से ही देखा जा सकता है और यह जीवात्मा के देहान्तरगमन में सहायक है । यथा—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्।। *(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 2/31)*

चक्रपाणि ने प्रचलित दर्शनों के अनुरूप इसे आतिवाहिकशरीरयुक्त आत्मा कहाहै जो सूक्ष्म शरीर का ही एक रूप है। यद्यपि कई आचार्यों नेआतिवाहिकशरीर एवं सूक्ष्म शरीर को एक ही माना है जबकि कई आचार्यों ने इन दोनों में स्वल्पतम भेद भी स्वीकार किया है । चक्रपाणि उपर्युक्त सूत्र का विवेचन करते हुए कहते हैं कि—

तस्यात्मन आतिवाहिकशरीरयुक्तस्य दृश्यं रूपं नास्ति, अतिसूक्ष्मरूपत्वादितिभावः अथ किं सर्व एवैनं गच्छन्तं न पश्यन्तीत्याह दिव्यं विनादर्शनमिति दिव्यं दर्शनं योगिचक्षुः, तेन योगिन एव पश्यन्त्येनमिति दर्शयति।

महर्षि चरक प्रकृति एवं पुरुष इन दोनों के संयुक्त स्वरूप को अव्यक्त मानते हैं (इसलिए वे चौबीस तत्त्व ही मानते हैं), अन्य दर्शनों की तरह उनका भी यही मानना है कि अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से व्यक्तभाव होता है अर्थात् महदादिमहाभूतपर्यन्तप्रपञ्चरूपता को प्राप्त होना ही व्यक्तभाव है। इसे जीवनचक्र के रूप में स्वीकार करते हैं तथा इनसे मुक्ति को ही मोक्ष माना है। इसी क्रम में वे अन्य दर्शनों की तरह ही जीवन्मुक्त को भी स्वीकार करते हैं तथा कहते हैं कि जीवन्मुक्तावस्था में करणाभाव होता है, यथा—

नात्मनः करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते।
स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते॥22॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 5/22)*

अर्थात् करण (मन, बुद्धि और सभी इन्द्रियों) के अभाव से आत्मा का लक्षण भी उपलब्ध नहीं होता है, वह आत्मा (पुरुष) सभी करणों के अयोग अर्थात् संयोगाभाव के कारण "मुक्त" ऐसा कहा जाता है । (मुक्त का तात्पर्य जीवन्मुक्त है) ।

चरकसंहिता में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि करण के संयोग से ही ज्ञान होता है, यथा—

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च॥
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1/56-57)*

अर्थात् मन, बुद्धि, बुद्धीन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ—ये करण हैं, (कर्ता आत्मा है, चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते) उस आत्मा का इन्द्रियों के साथ संयोग होने से कर्म अर्थात् कार्य की सम्पन्नता होती है तथा वेदना अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति और बुद्धि की उत्पत्ति होती है। भूतात्मा अकेला अर्थात् करण के विना किसी भी कार्य को करने में प्रवृत्त नहीं होता, नही अकेला कर्मों का फल भोगता है। वह सभी अर्थात् सत्त्व, आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ इन सब के संयोग से सम्पूर्णता को प्राप्त करता है और उसके विना अर्थात् सत्त्व, शरीर, इन्द्रिय के संयोग के विना कुछ भी नहीं होता है।

जब तक करण का संयोग रहता है तब तक व्यक्ति उनके संयोग से होने वाले कर्म को करता रहता है और उस कर्म के फल को भोगता भी रहता है तथा मोहग्रस्त रहता है। करण का अभाव होना अर्थात् करण को नियन्त्रित कर लेना मोक्षप्राप्ति के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस करणाभाव को महर्षि चरक ने जीवन्मुक्त माना है । यह ऊपर महर्षि चरक के वचनों से स्पष्ट हो जाता है। *महोपनिषद्* में कहा गया है कि—

येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम्।
सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥ *(महोपनिषद्)*

जो सर्वत्र मोहरहित होकर साक्षीभाव से जीवनयापन करता है तथा विना किसी फल की कामना किए ही अपने कर्तव्य (कर्म) में रत रहता है वही जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म का, अधर्म का एवं सांसारिक विषयों के चिन्तन का तथा सभी तरह की कामनाओं का परित्याग कर दिया है वही जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन के रहते हुए भी जिसने मोक्ष प्राप्त कर लिया है वही जीवन्मुक्त है। उसका अज्ञान समाप्त हो जाता है और ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, इसे महर्षि चरक ने सत्या बुद्धि कहा है । यह सत्या बुद्धि शुद्धसत्त्व के समाधान से होती है,सत्याबुद्धि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि चरक कहते हैं कि—

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिःप्रवर्तते।
ययाभिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः॥16॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः।
योगं यया साधयते साङ्ख्यैः सम्पद्यते यया॥17॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया।

यया नालम्बते किञ्चित्सर्वं सन्न्यस्यते यया॥18॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता॥19॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान,5/16-19)*

अर्थात् शुद्ध सत्त्व वाले पुरुष में जो सत्या बुद्धि उत्पन्न होती है जिसके द्वारा वह अत्यधिक बलशाली महाघोर स्वरूप तमस् है उसको समाप्त करती है । जिसके द्वारा सभी भावों के स्वभाव को जानने वाला मनुष्य निःस्पृह अर्थात् इच्छारहित हो जाता है, जिसके द्वारा योग की साधना करता है, जिसके द्वारा शान्त है अर्थात् तत्त्वज्ञाता हो जाता है, जिसके द्वारा अहङ्कार नहीं आता है, जिसके द्वारा कारण अर्थात् पुनर्भव के हेतु या सुख-दुःख के कारण की उपासना नहीं करता है, जिसके द्वारा वह किसी का अवलम्बन नहीं लेता है, जिसके द्वारा सब कुछ त्याग दिया जाता है, जिसके द्वारा नित्य अजर,शान्त, अव्यय, अक्षर, अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त करता है, वह सत्या बुद्धि सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान मानी गई है।

वेदान्तसार में स्पष्ट किया गया है कि जीवन्मुक्त अवस्था में अद्वेष्टृत्वादि गुण व्यक्ति में सहज रूप में समाविष्ट होते हैं, यथा—

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते।

तदुक्तम्—

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥ इति॥
(नैष्कर्म्यसिद्धिः, 4/69, वेदान्तसार 6/37)

अर्थात् तब अमानित्व (अदम्भित्व, अहङ्काररहितत्व) आदि(अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव आदि) ज्ञान के साधन एवं द्वेषहीनता आदि सद्गुण अलङ्कार की तरह अनुवर्तित होते हैं । जैसा कि कहा गया है—

'आत्मबोध उत्पन्न हुए सिद्ध व्यक्ति के द्वेषहीनता आदि सद्गुणसाधनों के रूप में नहीं अपितु सहज रूप से आ जाते हैं।'

निर्दिष्ट नियत उपायों से मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति भी इस भौतिक शरीर से पूर्वजन्मकृत सभी कर्मों को भोगता रहता है, क्योंकि भोगने पर ही कर्मों का क्षय होता है । मोक्ष के उपायों का परिपालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति के क्रम में सबसे पहले जीवन्मुक्तावस्था में आता है इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति चतुर्विंशतितत्त्वात्मक शरीर के साथ इस संसार में रहते हुए भी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों से दूर रहता है वह मोहग्रस्त (भ्रष्ट) नहीं होता,शोक से अभिभूत नहीं होता, तृष्णा एवं उपधा से दूर रहता है । अतः ऐसी स्थिति में उसे जीवित अवस्था में ही मुक्ति प्राप्त है ऐसा कहा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है, उसकी द्वन्द्व में आसक्ति नहीं होती, वह रजोदोष एवं तमोदोष से परे रहता है। ऐसे व्यक्ति का शुद्ध सत्त्व समाधान हो जाता है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में उसे

जीवन्मुक्त, गुणातीत, स्थितप्रज्ञ, भक्त, ज्ञानी कहा गया है। मुक्त पुरुष की सभी इच्छाएँ, अहङ्कार, आसक्तियाँ और शारीरिक सुखों की एवं तृष्णा की परिसमाप्ति हो जाती है, वह आत्मसन्तुष्ट रहता है। उसके अहङ्कार का नाश हो जाता है, द्वेषत्व से दूर हो जाता है। महर्षि चरक कहते हैं कि—

पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते॥21॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 5/21)*

अर्थात् निसंदेह सदैव समस्त अवस्थाओं में सभी लोकगत व शरीरगत सभी भावों को देखते हुए उस शुद्ध स्वरूप वाले ब्रह्मभूत (जीवन्मुक्त) पुरुष का संयोग (धर्माधर्म से संयोग) नहीं होता ।

इसे स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार चक्रपाणि कहते हैं कि—

अथ जीवन्मुक्तस्य किमिति सुखदुःखहेतुधर्माधर्मसंयोगो न भवतीत्याह पश्यत इत्यादि। पश्यति इति पश्यत एव परं, न तु रज्यतो नापि द्विषत इत्यर्थः। ब्रह्मभूतस्येति ब्रह्मसदृशस्य जीवन्मुक्तस्येति व्याख्येयं; सर्वथा मुक्ते हि ज्ञानमपि नास्ति, तेन पश्यत इति न स्यात्। संयोग इति धर्माधर्मसम्बन्धः॥21॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान,5/21चक्रपाणि)*

अर्थात् अब जीवन्मुक्त के सुख-दुःख के हेतु धर्म एवं धर्म का संयोग क्यों नहीं होता है, तो आचार्य बताते हैं कि "पश्यतः"अर्थात् दूर से देखते हुए के ही अर्थात् न तो रागयुक्त होते हुए के और न द्वेषयुक्त होते हुए के, (पश्यतः का) यह अर्थ है । ब्रह्मभूतस्य अर्थात् ब्रह्म के सदृश का, जीवन्मुक्त का, यह व्याख्या करनी चाहिए । सर्वथा मुक्त (मोक्ष को प्राप्त) होने पर तो ज्ञान भी नहीं होता, अतः यहाँ बताए गए पश्यतः इत्यादि यह सर्वथा मुक्त के नहीं होते हैं, संयोग का तात्पर्य है धर्म एवं अधर्म का संबन्ध ।

यहाँ "शुद्धस्य ब्रह्मभूतस्य" का तात्पर्य जीवन्मुक्त से ही है। अतः यह स्पष्ट है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए करणाभाव होना परमावश्यक है। स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी यही प्राप्त करता है। वह योग के 8 अङ्गों से क्रमशः सिद्धि को प्राप्त करता है। ये 8 अङ्ग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। इनमें साधक जब प्रत्याहार तक पहुँचता है, तब वह इन्द्रियों को नियन्त्रित करने की क्षमता की ओर अग्रेषित होता है। इसमें वह इन्द्रियों को नियन्त्रित करने का प्रयास करता है और जब वह इसमें सक्षम होता है तो वह धारणा, ध्यान एवं समाधि की प्राप्ति में सहजता से आगे बढ़ता जाता है। समाधि के स्वरूप को ही महर्षि चरक ने शुद्धसत्त्वसमाधान कहा है। यह वशित्व का स्वरूप ही है जो योग के माध्यम से प्राप्त किया जाता है । वशित्व प्राप्त करने के क्रम में महर्षि चरक कहते हैं कि-

आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥138॥

निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
स शरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥139॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान,1/138-139)*

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा,इन्द्रिय, मन तथा अर्थ इन सबका सन्निकर्ष(सान्निध्य, संयोग) होता है तो सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। आत्मा में मन के स्थित हो जाने पर अर्थात् समाधिस्थ होने पर अनारम्भ के कारण अर्थात् विषय को ग्रहण करने के लिए मन आरम्भ ही नहीं होता, प्रवृत्त ही नहीं होता तो ऐसी स्थिति में सुख और दुःख निवृत्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर के साथ आत्मा वशी अर्थात् स्वेच्छाधीनप्रवृत्ति वाला हो जाता है। योग को जानने वाले ऋषि उसे योग कहते हैं।

वस्तुतः इसे *पातञ्जलयोगसूत्र* में *'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'* कहा है। यह सूत्रात्मक स्वरूप में निर्दिष्ट किया गया है, उसे चरकसंहिता में अत्यन्त स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कर दिया गया है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जब मन विषयों से निवृत्त हो जाता है तो ऐसी स्थिति में योगी पुरुष उस चञ्चल मन को नियन्त्रित करके केवल आत्मज्ञान में ही मन को अवस्थित कर लेते हैं। यह स्थिति मन के आत्मस्थ होने की मानी जाती है। ऐसी स्थिति में चञ्चल मन अचल हो जाता है। फिर यह स्थिति योग की स्थिति है और यह योग ही आत्मा के वशित्व स्वरूप को स्पष्ट करता है।

करण का अयोग होने पर जीवन्मुक्त अवस्था की प्राप्ति के बाद वह योगी परम शान्ति को प्राप्त करता है जो मोक्ष के पहले की स्थिति और मोक्षप्राप्ति की सुनिश्चित अवस्था की ओर संकेत है। इसके पर्यायों का निर्देश करते हुए महर्षि चरक कहते हैं कि—

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।
अमृतं ब्रह्मनिर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते॥23॥ *(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 5/23-24)*

अर्थात् विपाप,विरजः,शान्त,परम्, अक्षर, अव्यय, अमृत,ब्रह्म एवं निर्वाण इन पर्यायों के द्वारा शान्ति कही जाती है।

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्त्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागताः॥150॥
अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः।
सङ्ख्यातधर्मैःसाङ्ख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्॥151॥
(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1/150-151)

अर्थात् जीवन्मुक्त योगियों के द्वारा तत्त्वस्मृतिबल को मोक्ष का एक मार्ग दर्शाया गया है। जिस मार्ग से गए हुए अर्थात् मृत व्यक्ति पुनः नहीं आते। योगिजनों के द्वारा यह तत्त्वस्मृतिबल योग का मार्ग कहा गया है और धर्म को जिन्होंने जान लिया है ऐसे सांख्यों (परम ज्ञानियों) के द्वारा और जीवन्मुक्त पुरुषों के द्वारा इसे मोक्ष का मार्ग बताया गया है।

वस्तुतः स्मृति एवं तत्त्वस्मृति में अन्तर है । स्मरण करने मात्र को स्मृति कहा गया है, महर्षि चरक कहते हैं कि—

स्मृति के 8 कारण माने हैं जिनसे स्मृति उत्पन्न होती है- निमित्त से अर्थात् कारण के ज्ञान से, रूप ग्रहण से, सादृश्य से, सादृश्य के विपर्यय से (सविपर्ययादिति अत्यर्थवैसादृश्यादपि स्मरणं भवति; यथा— अत्यर्थकुरूपं दृष्ट्वा प्रतियोगिनमत्यर्थसुरूपं स्मरति), सत्त्व के अनुबन्ध से अर्थात् मन को ध्यान पूर्वक लगाने से, अभ्यास से, ज्ञान योग से (ज्ञानयोगादिति तत्त्वज्ञानयोगात्; उपजाततत्त्वज्ञानो हि तद्बलादेव सर्वं स्मरति), पुनः श्रवण करने से (पुनः श्रुतादितिश्रुतोऽप्यर्थो विस्मृतः पुनरेकदेशं श्रुत्वा स्मर्यते)। आचार्य स्मृति का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि—

दृष्ट से तथा श्रुत से (सुनने से) तथा अनुभूत विषयों के स्मरण करने से स्मृति उत्पन्न होती है । यथा—

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते।
निमित्तरूपग्रहणात्सादृश्यात्सविपर्ययात्।।
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनःश्रुतात्।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते। *(चरकसंहिता, शारीरस्थान ,1/148-149)*

तत्त्वस्मृतिबल का तात्पर्य है तत्त्वों का स्मरण स्वरूप प्रभाव अथवा जिस मोक्षसाधन मार्ग में तत्त्वस्मृतिस्वरूप बल है वह तत्त्वस्मृतिबल कहलाता है। जीवन्मुक्त योगी पुरुष तत्त्वज्ञान को प्राप्त किए हुए होते हैं अतः वे सशरीर होते हुए भी शरीर और इन्द्रियों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों से निवृत्त होते हैं। उनको किए गए कर्मों के फलों का भोग नहीं करना पड़ता क्योंकि वे अनिष्ट, अप्रिय, अशुभ कर्म करते ही नहीं और जो शुभ कर्म करते हैं उनमें निष्काम भाव होता है। आचार्य के जीवन्मुक्तसम्बन्धी वचनों को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार चक्रपाणि कहते हैं कि—

एकमयनमितिश्रेष्ठः पन्थाः। मुक्तैरिति जीवन्मुक्तैरिति ज्ञेयं, सर्वथा मुक्तानां शरीराभावेनोपदर्शकत्वाभावात्। तत्त्वस्मृतिबलमिति तत्त्वस्मृतिरूपं बलं; किं वा, तत्त्वस्मृतिर्बलं यत्रमोक्षसाधनमार्गे तत्तत्त्वस्मृतिबलम्। येनेति येन यथा। गता इति मोक्षं गताः न पुनरागता इति मुक्तिं याता न पुनरागच्छन्ति॥150-151॥

(चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1/150-151 चक्रपाणि)

इसका भावार्थ यह है कि अयन अर्थात् श्रेष्ठ मार्ग। मुक्तैःइस पद का अभिप्राय जीवन्मुक्तैः (जीवन्मुक्त पुरुषों के द्वारा) यह जानना चाहिए। सर्वथा मुक्त पुरुषों के शरीर का अभाव होने से उपदर्शकत्व का अभाव होने के कारण अर्थात् वे विषयों के उपभोग से दूर रहते हैं। "तत्त्वस्मृतिबलम्" इस पद का तात्पर्य यह है कि जिस मोक्षसाधन मार्ग में तत्त्वस्मृतिरूप ही बल है। "गताः" का तात्पर्य है "मोक्षं गताः" अर्थात् मोक्ष को प्राप्त, मुक्त प्राणी । "न पुनरागताः" मुक्ति को प्राप्त, उनका पुनरागमन नहीं होता है।

यहाँ मुक्त का तात्पर्य है आत्यन्तिक दुःखनिवृत्त,नित्य सुखप्राप्त, मोक्ष को प्राप्त, कैवल्य को प्राप्त, निर्वाण को प्राप्त, सांसारिक बन्धनों से छूटे हुए जीवन जीते हुए भवबन्धनों से मुक्त पुरुष "जीवन्मुक्त" माने जाते हैं, इसे यों कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष भवबन्धनों से मुक्त सदेह होते हुए भी वह विदेह होता है।

इस तरह से महर्षि चरक ने अन्य दर्शनों का अनुगमन करते हुए तथा विश्लेषणपूर्वक विवेचन करते हुए जीवन्मुक्त को आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है, जिसमें वे जीवन्मुक्त में करणाभाव या करणायोग को प्रमुख मानते हैं ।

सन्दर्भग्रन्थ–

1. *महोपनिषद्*– Internet
2. *साङ्ख्यकारिका*– श्री ईश्वरकृष्णविरचित
3. वेदान्तसार– श्री सदानन्दविरचित
4. *चरकसंहिता*– चक्रपाणिदत्तविरचित *आयुर्वेददीपिका* व्याख्यासहित– आचार्य श्री यादव शर्मा द्वारा संशोधित एवं सम्पादित
5. *चरकसंहिता*– सान्वय हिन्दी अनुवाद एवं चक्रपाणिदत्तविरचित *आयुर्वेददीपिका* व्याख्या के *एषणा* हिन्दी अनुवादसहित, प्रथम भाग – प्रमुख अन्वेषक एवं अनुवादक प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड, प्रकाशक– राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ, नई दिल्ली
6. *चरकसंहिता*– सान्वय हिन्दी अनुवाद एवं चक्रपाणिदत्तविरचित *आयुर्वेददीपिका* व्याख्या के *एषणा* हिन्दी अनुवादसहित, द्वितीय भाग – प्रमुख अन्वेषक एवं अनुवादक प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड, प्रकाशक– राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ, नई दिल्ली
7. *पातञ्जलयोगसूत्र*
8. *श्रीमद्भगवद्गीता*
9. *आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान,* द्वितीय भाग – प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड

असिस्टेंट प्रोफेसर, स्वस्थवृत्त विभाग, एम.जे.एफ. आयुर्वेद महाविद्यालय हाड़ोता,
चोमू, जयपुर (राजस्थान)
एवं
पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर एवं
पूर्व कुलपति,
डॉ. एस.आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर।
आवास—80 चम्बल मार्ग, सेन कॉलोनी,
प्रेमनगर, झोटवाड़ा, जयपुर–302012
चलवाणी–9829077697

ब्रह्म विद्या (ज्ञान) है तथा माया अविद्या (विज्ञान) है

आचार्य गुलाब कोठारी

भारत में नारी को देवी कहा जाता है। बचपन से ही उसे प्रकृति का पवित्र रूप मानकर पूजा जाता है। वह ब्रह्म की सृष्टि में रचनाकार है, भग की धारक है। भग शब्द जीवन के छह आधारभूत तत्त्वों से बना है-धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, श्री एवं यश। ये छहों गुण ईश्वर के आभूषण हैं। अत: स्त्री को भगवान् की धारिका एवं विकासिका की जननी माना जाता है। गीता के अनुसार ईश्वर सभी में रहता है। **ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** कर्मचक्र के कारण एक स्त्री अपने पति की मृत्यु पर विधवा भी हो सकती है। पति के साथ रहने पर उसे सुहागिन के रूप में श्रेष्ठ माना जाता है। वह पति के रहते ही अपनी मृत्यु को श्रेयस्कर मानती है। सन्तानहीनता की स्थिति में वंश रुक जाता है। परिवार (वंश) की निरन्तरता और सम्पत्ति को साझा करने के लिए पति अपने निकट परिजनों के लड़के को गोद ले सकता है।

पत्नी के प्राण, पति के प्राण के साथ (कन्यादान के परिणामस्वरूप) रहते हैं। पति की जब मृत्यु हो जाती है तो उसके प्राणों के साथ ही अपने प्राण भी खो देती है। उसका आत्मा अल्पक्रिया हो जाता है। वह यदि पुन: विवाह भी कर ले तो उसके प्राणों का नए पुरुष के साथ आदान-प्रदान नहीं हो पाता। इस सम्बन्ध में आत्मीयता नहीं रहेगी। क्योंकि कामनाओं की पूर्ति केवल प्राणों के माध्यम से होती है। जब सूक्ष्म प्राण अनुपलब्ध हों तब केवल भौतिक अथवा स्थूल प्राण कार्य करते हैं। 'नारी' सोम है। किन्तु 'स्त्री' (पत्नी रूप) अग्नि है। स्त्री और पुरुष दोनों के आत्मीय सूत्र के अभाव में तो सामान्यत: जन्म लेने वाला केवल जैविक शिशु ही होगा। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार पिछले जन्मों में विभिन्न आत्माओं से सम्बन्ध हो सकते हैं। अत: हो सकता है कि अपवाद स्वरूप एक स्थायी नया विवाह अथवा बन्धन बन जाए। एक स्त्री के अस्तित्व को उसके पुरुष से जोड़कर ही परिभाषित किया जाता है। ऋत होने के कारण उसे अपनी पहचान के लिए सदैव एक सहयोगी अथवा आधार की तलाश रहती है।

स्त्री भीतर से पुरुष की भांति दृढ़ होती है। पुरुष जब उसके आगे समर्पण करता है तो हृदय के स्तर पर उसका विकास वैसा ही होता है जैसे भक्ति में समर्पित स्त्री होती है। स्त्री अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कृत संकल्पित होती है। उसके सारे प्रयास समाज सेवा, प्रेममय हृदय विकसित करने, पशु-पक्षियों-पेड़ों आदि से प्रेम करने से जुड़े होते हैं। ताकि सभी के साथ एकत्व की अनुभूति कर सके। वह उस (पुरुष) में आहूत होती है, भीतर से उसे एक वृक्ष की भांति विकसित करती है, सभी प्राणियों तक उसका विस्तार करती

है ताकि वह उन सब के साथ जुड़ सके। तब विश्व एक वृहद् कुटुम्ब बन जाता है—**उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम्।** वह अपने जीवनसाथी के साथ कामनाओं के रूप में जुड़कर जीवन की एक महान यात्रा करती है और अन्त में वही उसे कामना रहित बना देती है।

क्या कोई स्वर-व्यंजन-शब्दों के बगैर किसी भाषा के बारे में सोच सकता है। स्वर पुरुष हैं। जबकि व्यंजन योनि हैं। इन्हीं के संयोग से सम्पूर्ण साहित्य-संसार की रचना होती है। संस्कृत भाषा में स्वर के सहयोग के बिना किसी भी व्यंजन का उच्चारण संभव नहीं है। स्वर को बीज कहते हैं। स्वर एवं व्यंजन दोनों मिलकर एक भाषा बनाते हैं। ध्वनि का वाचिक स्वरूप ही नाद ब्रह्म कहलाता है। मानव शरीर के चार घटक हैं-शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा। इसी तरह ध्वनि के भी क्रमश: चार स्तर हैं-वैखरी, पश्यन्ती, मध्यमा एवं परा। हमारे शरीर की कार्यप्रणाली भी ध्वनि की भांति होती है। स्त्री शरीर सोम होने से चारों स्तरों पर पुरुष द्वारा ग्रहण की जाती है। प्रत्येक अगला स्तर सूक्ष्मतर होता है। उपासना अथवा भक्ति में ध्वनि के माध्यम से आत्मा तक यात्रा होती है।

यह सब ब्रह्म और माया की परिभाषा में ही निहित है। प्रारम्भ में सम्पूर्ण सृष्टि जलमग्न थी, प्रकाश नहीं था, सर्वत्र अंधकार था। अग्नि प्राण मन्द अथवा लगभग निष्क्रिय थे। यह अवस्था 'ब्रह्म की रात्रि' कही जाती है। ब्रह्म के हृदय के स्पन्दन समाप्त नहीं होते। हृदय की यह अग्नि (ब्रह्मा-विष्णु-इंद्र इन तीन प्राणों से प्रत्येक प्राणी का हृदय बनता है) समुद्र के सोम से अपना अन्न (सोम) ग्रहण करके अपना अस्तित्व बनाए हुए था। ब्रह्म को पर्याप्त ऊर्जा-अग्नि उपलब्ध हुई तब ब्रह्म ने अपने पूर्व स्वरूप में आने की कामना की। यही 'ब्रह्म का दिन' कहलाता है-**'एकोऽहं बहुस्याम्'**। मैं अनेक हो जाऊं। ब्रह्म ही ज्ञान का प्रकाश है। प्रत्येक प्राणी का निर्माण ब्रह्म से होता है और ब्रह्म प्रत्येक में निवास करता है। वह सृष्टि की रचना करता है और उसी में प्रविष्ट हो जाता है। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'**

हम यह तथ्य समझने लगें कि प्रत्येक हृदय में ब्रह्म निवास करता है तो यह दृष्टि ही ज्ञान है। ब्रह्म और ज्ञान पर्याय ही हैं-**'एकत्वस्य ज्ञानं ज्ञानम्।'** ब्रह्म एक ही अविभक्त, निराकार, अकर्ता, निर्मल है और सर्वोच्च पिता है। अपनी 'बहुस्याम्' कामना की पूर्ति के लिए वह माया की सर्जना करता है। माया के भीतर ऊर्जा (भीतर ब्रह्म) है। अब ये दो हुए-ब्रह्म और माया, ऊर्जा और पदार्थ। ब्रह्म का यहीं से विभिन्न आकारों में विवर्त शुरू होता है जो सारे तत्त्व रूप में होते हैं, दिखाई नहीं देते। ब्रह्म की नीचे की ओर गति शुरू होती है और वह स्थूल से स्थूलतर होता हुआ विभिन्न रूप, आकार, विरल से तरल, घन रूप धारण करता है। उसका यह 'बहुस्याम' होना ही माया की शक्ति है, इसी के लिए माया बनी है। एक से बहुत हो जाना ही 'विज्ञान' है। किन्तु यह परिभाषा आधुनिक विज्ञान से नितान्त भिन्न है। आधुनिक विज्ञान भौतिक विश्व की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। जबकि वैदिक विज्ञान में आध्यात्मिक दृष्टि की प्रधानता रहती है। दोनों की अपनी

स्वतंत्र शब्दावली, धारणाएं और सिद्धान्त हैं। निश्चित ही अन्ततः दोनों समान बिन्दु पर ही मिलेंगे। क्योंकि सत्य के दो स्वरूप नहीं हो सकते। सत्य सदैव एक ही होता है।

वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है कि ब्रह्माण्ड में जो भी तत्त्व हैं वे सभी में उपस्थित हैं। अनुपात भिन्न हो सकता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि सबकी कार्यप्रणाली भी समान होती है-**'यथाण्डे तथा पिण्डे।'** जब हम कहते हैं कि सृष्टि अग्नि-सोम से ही बनी है- **'अग्निषोमात्मकं जगत्'**, तब स्पष्ट है कि मानव सहित सभी अग्नि और सोम से ही सृजित हुए हैं। सूर्य-चन्द्रमा-तारागण सहित प्राणिमात्र के शरीर समान सिद्धान्तों के आधार पर समान घटकों से निर्मित होते हैं। जैसे आकाश में सात लोक हैं, वैसे ही प्रत्येक वस्तु के भी सात स्तर होते हैं। सृष्टि का सारा निर्माण अग्नि-सोम के यज्ञ से होता है।

यज्ञ का अर्थ है अग्नि में सोम की आहुति। इससे अग्नि के नए स्वरूप की उत्पत्ति होती है। यह सोम ही भीतर प्रवाहित होकर एक सोम विश्व की रचना करता है और सोम-बीज में परिवर्तित हो जाता है। बीज सभी सोम रूप होते हैं जो अग्नि से युक्त होकर निर्माण करते हैं। प्रत्येक सोम भीतर से अग्नि है। काष्ठ के टुकड़े की भांति। सोम के भीतर अग्नि पैदा किया जाता है। सौम्या के भीतर यह अग्नि 'स्त्री' है। माया अथवा नारी-मादा ही विज्ञान अथवा वैदिक ज्ञान का स्रोत है-यही 'एक' से 'अनेक' का निर्माण करती है। अन्ततः यही (माया ही) पुनः 'अनेक से एक में' समाहित भी करती है। पदार्थ और ऊर्जा का क्षरण नहीं होता अपितु एक-दूसरे में बदलते हैं। यही वैदिक विज्ञान की दृष्टि में विवर्त कहलाता है। हम इसी भांति रूप-आकार बदलते रहते हैं और चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं। हम कह सकते हैं कि ब्रह्म एक तत्त्व का ज्ञान है और माया नानात्व का विज्ञान है। प्रपञ्चात्मक विश्व की पितृशक्ति ब्रह्म तथा मातृशक्ति माया है, इन दोनों में अभेद सम्बन्ध है।

प्रधान सम्पादक,
राजस्थान पत्रिका समूह
केशरगढ़, जयपुर (राजस्थान)

ब्रह्मपुराणे ईश्वरतत्त्वम्

डॉ. मौमिता-वन्द्योपाध्यायः

पुराणानि साधारणमनुजनूनां कृते एव विरचितानीति कृत्वा तानि प्रसिद्ध्यात्मकानि प्राकृतिकविषयसम्बद्धानि भवन्ति। साधारणतया मनुष्याणां कृते दर्शनस्य विमूर्तत्वात् पुराणस्य व्याख्यासु तन्न भवति विवेचितम्। तथापि पुराणानि दार्शनिकचिन्तनान्न हि पूर्णतया विनिर्मुक्तानि सन्ति।

प्राथमिकरूपेण ब्रह्मपुराणन्तु दार्शनिकग्रन्थः, किन्तु स ग्रन्थो धर्मीयरचनारूपेण परिगण्यते। ब्रह्मपुराणस्य 235-तः 244-पर्यन्तं विद्यमाना अध्यायाः दार्शनिकचिन्तनसमन्विताः भवन्ति। एतेषु दशाध्यायेषु सांख्यदर्शनस्य मूलनीतिः, ईश्वरचिन्तनम्, आत्म-मुक्त्योश्चिन्तनं, गुणत्रयं, देहात्मनोः सम्बन्धः, योगदर्शनगतम् आत्मचिन्तनम्, अधिकारिणां योगविषयकज्ञानं, सांख्ययोगयोः सम्बन्धः, अनयोस्तौलनिकं श्रेष्ठत्वं, सादृश्य-वैसादृश्यदृष्ट्या उभयोर्दर्शनयोः कर्तृत्वाङ्गीकरणमित्येते विषया आलोचितास्सन्ति। एवञ्च तत्र सांख्योपादानं, यौगिकोपायेन कथं मोक्षलाभः सम्भवेदित्यपि वर्णिते स्तः। एवञ्च योगमाहात्म्यं, योगिनः आहारः, यौगिकक्षमता, प्रकृतिपुरुषौ, जीवपरमात्मानौ, अध्यात्मक्षेत्रं, तज्ज्ञानं, सत्त्वं, ज्ञानकर्मणी, ब्रह्मणः प्रकृतिः, जागतिकतथ्यं, सर्वोत्कृष्टधर्मस्वरूपम्, क्षयाक्षयौ, विद्याविद्ये चेत्येते विषया अपि वर्तन्ते।

एतान् विषयान् विहायापि *ब्रह्मपुराणे* विश्वतत्त्व-सृष्टितत्त्वसम्बन्धिदार्शनिकमतानि समुल्लिखानि दृश्यन्ते। अस्मिन् प्रसङ्गे ईश्वरः, आत्मा, कर्म, धर्मः, सत्यं, भक्तिः, युगतत्त्वं, स्थानान्तरं, कर्मविपाकश्चेत्येते पर्यालोचितास्सन्ति। परम् अस्मिन् बन्धे मुख्यतः ईश्वरस्वरूपश्चित्रितमास्ते। तदधुना संक्षेपेण यथामति आलोच्यते मया।

उपनिषत्सु केचन अंशाः सन्ति, यत्र इतिवाचक-नेतिवाचकब्रह्मणो वर्णनं[1] विद्यते। उत्कृष्टं ब्रह्म तु निर्गुणम् अनिर्दिष्टं निर्बोधं निरपेक्षं विशुद्धश्चेति। यत्र निकृष्टं ब्रह्म तु अशुद्धं सगुणश्चेति। ब्रह्मपुराणे भगवतः पुरुषोत्तमस्य उच्च-निम्नमूलकयोरुभयोर्गुणयोः प्रोल्लेखनं वर्तते। पुराणेऽस्मिन् क्वचित् परब्रह्मरूपेण भगवान् विष्णुरभिहितोऽस्ति। चराचरात्मकं जगदिदं ततः सृष्टं, तत्र स्थितं लीनश्चेति। एतत्तु प्रसिद्ध्यात्मकैतिह्याद्भिन्नमिति। तस्यैव सर्वोत्तमा स्थितिः, तत एव अखिलजगतः, भ्राम्यमानानाम् अचलात्मकानां वस्तूनाञ्चोद्भवः। स एव परमेश्वरः सर्वेषामाचाराणां[2] हेतुभूतः। यज्ञकर्मापि तेनैव सम्पद्यते, फलमपि तस्याभिप्रेतात्मकम्। तदितराणामस्तित्वमेव नास्ति।

धर्मार्थकामाः प्रमाणलभ्याः। तत्र वेदस्यैव कर्तृत्वं स्वीकृतम्। वेदे यः पुरुषः प्रशंसितः, स उच्चतः उच्चतरः (परात्परः), अमूर्तः, अमरः। तत्र तु अन्यश्चापरो नश्वरो मूर्तः। गुणानुसारं मूर्तरूपमिदं त्रिगुणात्मकं भवति। तथैव ब्रह्माविष्णुमहेश्वराभिधाभिः सोऽभिधीयते। विश्वस्योपकारायैवं भिन्नं भिन्नं रूपं धारयति स परमात्मा।

तत्त्वमिदमुपर्युक्तेन तत्त्वेन सह सम्मिलितं भवति। यत्र विष्णवे त्रिविधं कर्म समर्पितम्। यद्यपि त्रिविधकर्मणे देवत्रयं प्रकल्पितम्, तथापि पारमार्थिके स देव एकोऽभिन्नश्चेति। क्वचिदुक्तमस्ति यत् येन पुरुषार्थचतुष्टयं, पापाद्विमुक्तिः, निःश्रेयसमाहर्तुमिष्यते, तेन भगवतः विष्णोस्तथा महादेवस्यैकत्वमुपलभ्यते (129.112)। अन्यत्र देवतानामैक्यप्रतिष्ठानं भवति। एवमुच्यते यद्यज्जलं तदेवाग्निः, अग्निरेव सूर्यः, सूर्यरेव विष्णुः, विष्णुरेव भास्कर इति। यद्ब्रह्म तदेव रुद्रः, रुद्र एव सर्वम्। पारमार्थिकतयैतदेकमेव किन्तु विभ्रमसृष्ट्यर्थं बहुविधमिति अभिधीयते।[3]

ब्रह्मज्ञानं द्विविधेनोपायेन लभ्यते। तद्यथा – वेदाध्ययनमुपलब्धिश्चेति (विवेकेन)। तमःस्वरूपं ब्रह्मविषयकमज्ञानमुपलब्ध्यात्मकेन ज्ञानालोकेन जिज्ञासितव्यम्। येन वेदाध्ययनं क्रियते, तस्य ब्रह्मोपलब्धिर्भवति। ये मोक्षमभिलषन्ति ते अव्यक्तमजरमचिन्त्यमव्ययं, निराकारं, सर्वव्यापकं, चिरन्तनमखिलजीवकारणञ्च ब्रह्म ध्यायन्ति। तेन ब्रह्मणा विश्वमिदं परिव्याप्तम्। तस्यैवोत्कृष्टा स्थितिः। उत्कृष्टगुणसम्पन्नत्वात् षड्गुणोपेतत्वाच्च स भगवत्स्वरूप इत्युच्यते। तस्य षड् गुणास्तावज्ज्ञानं, शक्तिः, बलम्, ऐश्वर्यं, वीर्यं, तेजः इति। स सर्वेषु प्राणिषु तिष्ठति सर्वे प्राणिनश्च तस्मिन् तिष्ठन्तीति कृत्वा स वासुदेवः[4] इति कथ्यते। स सर्वेषां प्राणिनां प्रकृतेश्च गुणदोषयोरूर्द्ध्व भागे तिष्ठति। सर्वेषामावरणानामूर्द्ध्वे राजते सः। किन्तु स्वात्मना जगदिदमाच्छादयति। सर्वैरुत्तमगुणैः परिपूर्णस्तावत् सः। जगद्धिताय स्वाभिलाषेण सोऽवतरति भूमावस्याम्। स[5] एव सर्वेषां प्रभुः, चक्षुस्स्वरूपः, शक्तिमान्, परमेश्वरश्चेति। स निर्मलः एकरूपश्चेति। तं केवलमुपलब्धुमलम्।

मङ्गलाचरणात्मके श्लोके तु पुरुषोत्तमनाम्ना भगवान् विष्णुराख्यातः। तस्योपासनेनैव मोक्षलाभः सम्भवति। स तु नित्यो विभुर्निश्चलो नित्यानन्दमयः, प्रसन्नोऽमलः, सर्वेश्वरो, निर्गुणो व्यक्तस्तथा सृष्ट-ध्वंसयोः कारणं, मुक्तिदाता चेति। सृष्टिः, पालनं, ध्वंसश्च तेनैव निर्धार्यन्ते।[6]

विविधैर्दार्शनिकोपाख्यानैर्गुणैश्च देवता उद्दिष्टाः। *ब्रह्मपुराणे* ईश्वरस्य दार्शनिकस्वरूपस्य स्पष्टधारणा समुपलभ्यते। सूर्यसम्बन्धिनं ज्ञानं तु अव्यक्तमवाच्यं परमगुह्यम्। स तु सूक्ष्मोऽभिज्ञेयोऽकालो ध्रुवः इन्द्रियजातवस्त्वतीतश्च। सर्वेषां प्राणिनामन्तरात्मत्वात् क्षेत्रज्ञरूपेणाभिधीयते सः। पुरुषाणां गुणत्रयादूर्द्ध्वे वर्तत इति कृत्वा हिरण्यगर्भः इत्युच्यते।

सांख्यदर्शनवद्योगदर्शनेऽपि विविधैर्नामभिरभिधीयते अयमीश्वरः। स त्रिरूपी जगदात्मा चेति। स्वात्मना त्रिभुवनं धारितम्। निरवयत्वेऽपि सर्वेषु प्राणिषु वर्तते सः। स सर्वेषां विषयाणां साक्षीस्वरूपः। स केनापि न बध्यते। सगुणात्मको निर्गुणात्मकोऽयं ज्ञानेनाप्यते। तस्य हस्तादीनि सर्वत्र वर्तन्ते तथा सोऽखिलेऽस्मिन् जगति विराजमानोऽस्ति। तेन सर्वक्षेत्रस्यानन्ददुःखे ज्ञायेते इति हेतोः क्षेत्रज्ञः इत्युच्यते। अखिलरूपधारणत्वात् स विश्वरूपः। स स्वात्मनैव स्वात्मानं निर्माति। यथा गगनात् पतितं जलं भूम्याः संस्पर्शेण पृथक्स्वादयुक्तं भवति, तथैव वायुः पञ्चभिः कर्मभिः पञ्चाभिधाभिश्चाभिहितो भवति। एवंरूपेण तेन विविधानुष्ठानेषु नामवैचित्र्यमाप्यते। पुनः एकेन प्रदीपाग्निना शतशः प्रदीपाः प्रज्वलिताः भवन्ति, पारमार्थिकरूपेण तु तदेकस्यैव प्रकाशस्यैव फलम्। सोऽपि

तादृशस्वरूपविशिष्टः। सोऽक्षयोऽप्रमेयः सर्वज्ञः चेति। ततः एवाव्यक्तं गुणत्रयमाविर्भूतम्। सदसदात्मकं ब्रह्म प्रकृतेर्योनिस्वरूपं सत् व्यक्ताव्यक्तयोर्विद्यमानमस्ति। ततः उच्चतरः कोऽपि नास्ति। आत्मनैव तज्ज्ञातुं शक्यते।[7]

कूटस्थोऽकालो ध्रुव एव भगवान् विष्णुः। तदवगन्तुं भगवान् ब्रह्मा तथा अन्ये अनर्हाः सन्ति। स तु शुद्धस्वभावविशिष्टः। स पुनः नित्यः, प्रकृत्यपेक्षया उत्कृष्टः, अव्यक्तः, पारमार्थिकः, अन्तहीनः, सर्वव्यापी, अजः, विभुः, आकाशसदृशः, अत्यन्ततया प्रशान्तः चेति। अयं तु निर्गुणः निरञ्जनः।[8] वैदान्तिकोपाख्यानानि प्रमुखानि सन्ति। भगवतोः शिव-ब्रह्मणोः सम्मिलिताः गुणा विष्णौ विद्यन्ते। अतस्तस्य सर्वगुणविषयप्रशंसाकाले उक्तं यत् स सर्वव्यापी, जगन्नाथः, समग्रजगतोऽधिपतिः, जगत्स्रष्टा, रक्षाकर्ता, लयकारणं, जगदानन्दपतिः, अविनाशी चेति। पुनः सोऽयमनन्तः, निर्लेपः, निर्गुणः, सूक्ष्मः, निर्विकारः, निरञ्जनः, असीमः, सत्यम्, अधिकारी, विभुः, नित्यः, सनातनः, अकालः, निर्मलः, सर्वव्यापी, व्यक्तः, नारायणः, अनन्तात्मा, अव्ययः इति।[9] भगवतो विष्णोर्वर्णनप्रसङ्गे सांख्य-वेदान्तयोश्चिन्तनं सम्मिलितं भवति। एवंरूपेण वक्तुं शक्यते यद्भगवान् विष्णुस्तन्मात्ररूपहीनोऽचिन्त्यमहिमानो व्यापी एकः तथा बहुरूपाधिकारी शब्दरूपोऽकल्पनीयो विज्ञानरूपो जीवात्मा इन्द्रियः प्रधानश्चेति। आत्म-परमात्मस्वरूपं पञ्चविधेषु रूपेष्ववस्थीयते। स क्षयोऽक्षयश्चेति। ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः इति नाम्ना च स वर्तते। तस्य स्वभावः उद्देश्यं नाम नावगम्यते। नामजातिकल्पनाभ्यः ऊर्ध्वोऽयम्। सोऽयं तु ब्रह्म-पशुपति-विधातृ-धातृ-वायु-अग्नि-जलसम्पदामधिपतिरूपेण तथा यमरूपेण भूमिं त्रायते।[10] पुनः इन्द्रिय-बुद्ध्योः समन्वयगुणात्मकोऽसौ भगवान् विष्णुः। क्वचिदुक्तं यत् वेदस्तु प्रमाणस्वरूपः। यस्याकारोऽस्ति परं सारो निराकाररूपः।[11]

एकत्रोक्तं यत् गुणत्रयस्य नाम सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था हि प्रकृतिः प्रधानो वेति। इदमेवाखिलकारणम्। एवंरूपेणाव्यक्तव्यक्तस्वरूपा खलु प्रकृतिः। व्यक्तरूपन्तव्यक्तेन सह संयुज्यते। प्रकृतेर्भिन्नः पुरुषः शुद्धोऽक्षरो नित्यः सर्वव्यापी परमात्मांशभूतश्च। स सत्तामात्रेण विराजते। स तु ज्ञानं ज्ञानात्मरूपम्। तथा देह-आत्म-काल्पनिकनाम-यत्यादीनामूर्द्ध्वे राजते, स एव परमं ब्रह्म परमात्मा परमेश्वरश्चेति। स तु भगवान् विष्णुरेव, नेतरे। यस्त्वस्यां भूमौ न प्रत्यागच्छेत्, स सर्वेषां प्राणिनामाश्रयः पिता चेति। वेदे वेदान्ते च तस्य प्रशंसा कृता वर्तते। केनचित् प्रवृत्ति-कर्मयोगेन तथा निवृत्ति-सांख्ययोगेन विष्णोरुपासनं कर्तुमलम्। ये प्रवृत्तिमार्गमनुसरन्ति ते तु ऋग्यजुस्सामभिः प्रशंसिताः भवन्ति। निवृत्तिमार्गानुसारिणस्तु ज्ञानयोगस्यानुसारिणः। अयं भगवान् बिष्णुर्न हि ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतस्वरैर्लभ्यः, नापि वाचा। स यथा व्यक्तस्तथैवाव्यक्तः। अखिलविश्वस्य परमात्मरूपेण विद्यते स केवलम्।[12] वचनमिदं सांख्यसम्बन्धितं तात्पर्यपूर्णञ्चेति।

उपर्युक्तचर्चात एतत् प्रतीयते यत् ब्रह्मपुराणे ईश्वरस्य चिन्तनमुपनिषदीयब्रह्मणा[13] सम्बन्धितमस्ति। ईश्वरं प्रति स्थूलसूक्ष्मादीनि वैशिष्ट्यानि वल्लभाचार्याभिमतब्रह्मणः विरुद्धधर्माश्रयत्वमतवादेन सह सामञ्जस्यपूर्णाणि सन्ति। इतरपुराणवत्पुराणेऽस्मिन् देवताचिन्तनं वर्तते[14] इति शिवम्।

तथ्यसूत्राणि

1. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ —*तैत्तिरीयोपनिषत्* (शिक्षावल्ली) (2.9.1.)
2. *ब्रह्मपुराणम्* (23.41-44) 3. तत्रैव, 168.24-27 4. तत्रैव, 233.63-69
5. तत्रैव, 233.70-75 6. तत्रैव, 1.1-2 7. तत्रैव,30.57-80
8. तत्रैव, 55.32-35 9. तत्रैव,179.67-75 10. तत्रैव,192.48-56
11. तत्रैव,130.7-8 12. तत्रैव,232.33-37
13. Dasgupta S.N., *A History of India Philosophy*, Vol. – I, P. – 45 ; Radhakrishnan, S., Indian Phil. Vol. – I, P. – 175.
14. Sinha J.N., *History of Indian Philosophy*, Vol –I, PP. – 127 ff; Dasgupta S.N., Op. Cit, Vol. – III, pp – 497A.

ग्रन्थपञ्जी

1. *अग्निपुराणम्*: पञ्चानन तर्करत्न (सम्पा.), नवभारत पवलिसार्स, कलकाता, 1419 (बङ्गाब्द), द्वितीय संस्करण।
2. *अग्निपुराण* – आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क 41, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 19००।
3. *ऋग्वेदसंहिता :* हरफ प्रकाशनी, कलकाता, 1978।
4. *ऋग्वेदसंहिता* (द्वितीय खण्ड) : विजनविहारी गोस्वामी (सम्पा.), हरफ प्रकाशनी, कलकाता, 2000 (चतुर्थसंस्करणम्)।
5. *उपनिषद् ग्रन्थावली* : स्वामी गम्भीरानन्द (सम्पा.), उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता।
6. *तैत्तिरीय उपनिषत् :* अल्लदि महदेव शास्त्री, भारतीय कला प्रकाशन, दिल्ली, 2004।
7. *ब्रह्मपुराण :* पञ्चानन तर्करत्न (सम्पा.), नवभारत पावलिसार्स, कलकाता, 1409(बङ्गाब्द)।
8. *यजुर्वेद संहिता* : विजन विहारी गोस्वामी (सम्पा.), हरफ प्रकाशनी, कलकाता, 1382 (बङ्गाब्द, प्रथम संस्करण)।
9. *विष्णुपुराण* : पञ्चानन तर्करत्न (सम्पा.), नवभारत पवलिसार्स, कलकाता, 1390 (बङ्गाब्द) (प्रथम संस्करण)।
10. *श्वेताश्वतर उपनिषत्* : स्वामी लोकेश्वरानन्द, दि रामकृष्ण मिशन् इन्सटिटिउट् अफ कलचर, कलकाता, 2018।
11. *सामवेदसंहिता* :गिरीन्द्रनाथ चक्रवर्ती, पश्चिमवङ्ग स्टेट वुक वोर्ड, कलकाता, 1987।
12. Chattopadhyaya, Deviprasad. *Studies in the History of Indian Philosophy*. Calcutta: K.L.Bagchi & Company, 1978. Print.
13. Radhakrishnan, S. *Indian Philosophy*. London: George Allan & Unwin Ltd., 1927. Print.
14. Sharma, C. D. *A Critical Survey of Indian Philosophy*. Delhi: 1964. Print.

गवेषिकाचरा, रायगञ्ज-विश्वविद्यालयः,
दक्षिणदिनाजपुरम्, पश्चिमवङ्गः,
White House,
Opp. Lane of Agriculture Form No. 2; Govt Colony,
PS-English Bazar
PO. Malda (West Bengal)
Pin-732101
Mob : 9609925449

जगदुद्भवकारिणी सर्वाराध्या उषा देवता

डॉ पुष्पा त्रिपाठी

ऋग्वेदीय सौर देवताओं में उषा देवता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्ममुहूर्त के आस-पास में उषा देवता का काल निर्धारण किया जाता है। सविता के उदय से पूर्व उषा देवता का प्राकट्य होता है जो अन्धकार को तिरोहित कर सौर देवताओं को अपने-अपने कार्यों का सम्पादन करने के लिए प्रेरित करती हैं। यही नहीं ब्राह्ममुहूर्त में इन्हीं उषा देवता की सहायता से सभी देवता, किन्नर, गन्धर्व, असुर, मनुष्य, ऋषि-महर्षि आदि समस्त जीवस-सङ्घात अपने-अपने कार्यों को करने के लिए कृत संकल्प होते हैं। इसलिए इनको प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी के रूप में अथवा प्रभात की देवी के रूप में सर्वत्र वर्णित किया गया है।

शाब्दिक दृष्ट्या उषा शब्द की व्युत्पत्ति "वस कान्तौ"[1] धातु से की जाती है। 'वस्' के वकार को सम्प्रसारण के द्वारा उकार कर देने पर तथा दन्त्य सकार को मूर्धन्य करने पर 'उषा' पद निष्पन्न होता है। यास्क के अनुसार "उच्छतीति सत्याः, रात्रेः अपरः कालः।"[2] इस उक्ति के अनुसार भ्वादिगण पठित 'उच्छी विवासे' धातु से असुनि प्रत्यय करने पर तथा "छस्य षः पृषोदरादित्वात्" अर्थात् विवासार्थक (समाप्ति नासार्थक) उच्छी धातु से असुनि प्रत्यय करने पर तदुपरान्त अनुबन्ध लोप करके पृषोदरादि होने से उ स न् के सकार को मूर्धन्य षकार तदनन्तर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् अनुबन्ध लोप तथा अन्य विभक्त्यादि कार्य करने पर उषा शब्द सिद्ध होता है। निघण्टुकार ने "उच्छी विवासे" का अर्थ करते हुए कहा है—"विवासः समाप्तिर्नाशः" अर्थात् रात्रि के नाश को विवास कहा गया है। इसलिए इसकी व्युत्पत्ति करते हुए— "विवासयति हीयम् तमांसि इत्येवमस्याभास एतस्मिन् कर्मणि सत्याः कर्तरि कारके उषा इति अभिधानम् भवति।" अर्थात् जो अन्धकार को दूर करके प्रकाश का आभास करा दे, ऐसा होने पर कर्ता कारक में उषा पद काअभिधान होता है। कतिपय लोगों द्वारा उषा शब्द को आवन्त प्रयुक्त माना गया है। दुर्गाचार्य ने[3] इसकी पुष्टि *अमरकोश* से करते हुए कहा है "उषा शब्द आवन्तोपि उषा रात्रेरवसाने" ऐसा अमरकार की उक्ति को चरितार्थ करके वहाँ पर "उष दाहे" दाहार्थक 'उष' धातु से औणादिक का प्रत्यय करने पर उषा पद की सिद्धि मानी गयी है। "उषा स्याद्रजनीशेषे उषः इत्यपि दृश्यते।" यहाँ पर उषस् शब्द प्रभाव के भाव में अव्यय माना गया है। किन्तु सान्त स्त्रीलिंग उषस् शब्द भी व्यवहार में लाया जाता है।

यास्क ने उषा के षोडश नामों का उल्लेख किया है[4]—(1) विभावरी (2) सूनरी (3) भास्वती (4) ओदती (5) चित्रा-मघा (6) अर्जुनी (7) वाजिनी (8) वाजिनीवती (9) सुम्नावरी (10) अह्ना (11) द्योतना (12) श्वेत्या (13) अरुषी (14) सुनृता (15) सूनृतावरी (16) सूनृतावती इत्यादि ।

इसके अतिरिक्त उषा को अनेक विशेषणों से मण्डित किया गया है—प्रभावती, ज्योतिष्मती, रोचमाना, श्वेता, हिरण्यवर्णा, ऋतजाता, इन्द्रतमा, दिव्या, अमत्र्या, मघोनी, रेवती, अश्वमती, गोमती, कल्याणशीला, अन्नवती, धनवती, वहुस्तोत्रवती, इन्द्रतमा, नवतरा, सौभाग्यवती, सत्कार्यशालिनी, रमणीया, दर्शना, सत्यवती, रथप्रेरयित्री, शुभ्रवर्णा इत्यादि।

बृहद्देवताकार ने उषा शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—[5] उषा अन्धकार को विलीन कर देती हैं, रात्रि उसे हिम बिन्दुओं से मण्डित कर देती है। यह 'नञ्' उपसर्ग के साथ "अञ्च" धातु से निष्पन्न है और इसका अर्थ "अव्यक्त वर्णा" भी हो सकता है। क्योंकि प्रारम्भ में इसे 'दोषा', मध्यरात्रि में 'तमस्वती' तथा सूर्योदय के पूर्व इनका नाम उषा होता है।[6] उषा देवी सोये हुए व्यक्तियों को जगाती हैं एवं सभी प्राणियों, द्विपादों, एवं चतुष्पादों को गति हेतु प्रेरित करती है।[7] उन्हें प्रेरणा प्रदान कर उनको तत्-तत् कार्यों में अग्रसर कराती हैं। *अथर्ववेद* में भी उषा की प्रतिष्ठा देवता के रूप में अधिक किया गया है, प्रकृति सुन्दरी के रूप में इनका स्वल्प प्रयोग है। वहाँ उषा काल को सौभाग्य का जनक तथा दौर्भाग्य का विनाशक कहा गया है। इस तथ्य की पुष्टि *अथर्ववेद* के तीन-सात-सात मन्त्रों से होती है। जिसमें स्तुति करने वाले याचक द्वारा यह अभिलाषा की गयी है कि नक्षत्रों तथा उषा के विदा होते ही हमारे सम्पूर्ण दूरभूत और क्षेत्रीय रोग दैहिक, दैविक और भौतिकादि सन्ताप नष्ट हो जाय।[8] उषा और अन्य अन्तरिक्ष नक्षत्रों के विदा होने का समय एक ही है।

यही समय देवताओं के अर्चन का भी माना गया है। उषा देवी सभी उपासकों को जागृत करके यज्ञादि को प्रदीप्त कराकर सुरों पर भरपूर अनुग्रह करती हैं।[9] उषा को भग की बहन (भगिनी) कहा गया है। उषा रात्रि की बहन तथा द्युलोक की पुत्री बताई गयी हैं। उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए वह सूर्य की यात्रा के लिए मार्ग प्रस्तुत करती हैं। इनका सम्बन्ध अश्विनीकुमारों, चन्द्रमा, इन्द्र तथा वृहस्पति आदि देवताओं के साथ भी है। इनका विशेष सम्बन्ध 'नक्त' के साथ है। इन्हें रात्रि का बहन कहा गया है। उषा और रात्रि को युगल रूप में 'उषानक्ता' नाम से आवाहित किया गया है। इन्हें दिन रात की संयुक्त देवी के रूप में जाना जाता है। इनसे रक्षा की प्रार्थना की जाती है। इन दोनों को द्युलोक की पुत्री के रूप में चित्रित किया गया है। उषा और नक्त परस्पर बहन होने के साथ-साथ अलग-अलग रंगों से अलंकृत हैं। इनका मार्ग भी एक है। ये न कभी ठहरती हैं, न कभी परस्पर टकराती हैं। वह दिवो दुहिता हैं और इन्द्र द्वारा संसृष्ट की गयी हैं। सूर्य उनके प्रेमी हैं। क्योंकि ये देवताओं के देदीप्यमान आभा सूर्य को अपनी गोद में लेती हैं इसलिए कहीं-कहीं सूर्य को उनका पुत्र कहा गया है।[10] रात्रि के साथ सम्बन्ध होने के कारण वरुण से भी इनका सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

अश्विनीकुमार उषा के प्रिय मित्र हैं। इन्हें भी उषा क्योंकि ये देवताओं के देदीप्यमान आभा जगाती हैं और वे इनके साथ ही चलते हैं। अग्नि भी इनके प्रणयी हैं, उषा के आगमन पर अग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता है इसलिए उन्हें उषा से प्रज्ज्वलित कहा जाता है। उषा का रथ उज्ज्वल है, जिसे भूरे रंग के घोड़े खींचते हैं। अनुमानतः यही घोड़े बाद में लाल किरणों का रूप धारण कर लेते हैं। पुरातन होते हुए भी उषा युवती हैं। (युवतिः पुराणी) इनका बार-बार जन्म होता रहता है। जब वह जागती हैं तब क्षितिज आलोकित हो जाता है, स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं तथा अन्धकार दूर हो जाता है। इसप्रकार उषा अन्धकाराच्छन्न वैभव को अनावृत करती हैं अर्थात् वैभव प्रदान करती हैं। इसीलिए इनको उदारशील भी कहा गया है। सबको जीवन प्रदान करती हुई उषा मर्यों के जीवन क्रम को क्रमशः कम करती हुई प्रतिदिन निश्चित स्थान पर उदित होकर देवताओं के आदेशों निर्देशों का भली प्रकार से पालन करती हैं।

ऋग्वेदस्थ प्रथम मण्डल के एक सौ तेइसवें सूक्त में उषा की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उनके वाहन एवं कार्य पर प्रकाश डाला गया है। दक्षिणा अथवा उषा का रथ घोड़ों से नद्या (जुता) संयुक्त था। उस पर अमर अर्थात् देवता लोग सवार हुए। कृष्ण वर्ण[11] अंधेरे से उठकर पूजनीय विचित्र गतिमती और मनुष्य के निवास स्थानों का समस्त विकार नष्ट करने वाली तथा उनकी चिकित्सा करती हुई, अन्धकार रूप तम का निवारण करती हुई उषा देवी प्रतिदिन प्रकट होती हैं।[12] सब जीवों के पहले ही उषा जागा करती हैं। विश्व से, भुवनों से, सभी जगह से, सभी प्राणियों के पूर्व यह देवी उदित होकर सबको अपना सौन्दर्य दर्शन कराती हैं। उषा आनन्ददायिनी महती एवं संसार को सुख देने वाली हैं। वह सम्पूर्ण संसार को देखती हैं। मिश्रणशीला, नित्ययौवन एवं रूप से सुशोभित बार-बार आविर्भूत होकर ऊर्ध्व लोक में विद्यमान रहने वाली उषा देवी हमारे आह्वान करने के पूर्व ही देव यजन देश में उपस्थित हो जाती हैं। इसलिए प्रमुख रूप से इनको प्रथमा नाम से पुकारा गया है। इसकी पुष्टि यास्क ने किया है।[13] अन्य देवताओं के आह्वान से पूर्व इनका पधारना होता है। हे उषा! आपका अत्यन्त विस्तीर्ण शोभमान प्रकाशयुक्त रथ सूर्य की तरह सुशोभित हो रहा है। देवी देवनशील, शोभन, जननी, सुजाता, उषा देवी आप उषः कालाभिमानी देवता के रूप में मर्त्य लोक के मनुष्यों का पालन करने वाली हो। आप आज इस समय में मनुष्यों के लिए जो जो भाग प्रकाशार्थ विभाजित कर प्रदान करती हो, वह आपकी उदारता को प्रख्यापित करता है। उषः काल के प्रवृत्त होने पर हवि देने की प्रवृत्ति के कारण उषा दातृत्व की देवी के रूप में स्तुत की जाती हैं। हे उषा देवी! यज्ञ भाग को यजमानों को प्रदान करने वाली, उनकी मनोकामना के अनुसार फल देने वाली हम यजमानों को पापों से दूर रखकर अनुग्रहीत करें।[14]

यहाँ पर यजमानों द्वारा उषा देवी से अपने हित साधन एवं ऋत-चक्र प्रवर्तन करते रहने की प्रार्थना की गयी है। उनसे यज्ञादि कर्मों में होने वाले जो प्रारम्भिक कृत्य हैं, उन कृत्यों की ओर तत्पर होने के लिए निर्देशित किया गया है। उषा के स्वरूप का प्रतिपादन, उनके कार्य का वर्णन तथा उनके द्वारा दुःख पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा जतायी गयी है। अहन् दिवस को द्योतित करने के कारण इनको अह्ना भी यत्र तत्र

कहा गया है। अह्ना या उषा प्रतिदिन विनम्र भाव से प्रत्येक गृह की ओर प्रस्थान करती हैं। संसार को निश्चित रूप से द्योतित करने वाली भोगेच्छा शालिनी वह प्रतिदिन पधारा करती हैं तथा हव्य रूप धन के श्रेष्ठ भाग को स्वीकार करती हैं।[15] सूनृता उषा अच्छी प्रकार से मनुष्यों को प्रेरणा प्रदान करें। (सुष्ठु मनुष्यों के नेत्ररूपा उषा को सूनृता कहा गया है।) उषा को भग या सूर्य की भगिनी और वरुण या प्रकाश देव की जामिः (पुत्री) कहा गया है जिसका व्याख्यान यास्क ने निरुक्त के तीन छः में प्रतिपादित किया है।[16] 'जामि' का अर्थ सायण ने "जमति गच्छति सोत्पत्तिस्थानात् अन्यत्रेति जामिः।" अर्थात् जो अपने जन्म के स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाय उसे जामि कहते हैं। कन्या प्रायः पिता के घर से अपने पति के घर प्रस्थान करती है अतः 'जामि' कन्या के अर्थ का वहन करता है। यास्क ने इसकी पुष्टि की है। "न जामये भगिन्यै जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जमापत्यं जमतेर्वास्यादङ्गति कर्मणो निर्गमन प्राया भवतीति।" अर्थात् दूसरे व्यक्ति जिसकी कोख से सन्तान उत्पन्न करते हैं—उसे 'जामि' अर्थात् कन्या कहते हैं।

हे उषा! उपयुक्त गुणों से विभूषित अन्य देवताओं से पूर्व उत्कृष्ट रूप से विचरण करने वाली देवताओं के द्वारा आप अत्यन्त स्तुत्य हो। मन्त्र में जो जरस्व का उल्लेख है वह स्तुति का द्योतक है। "जरास्तुतिः जरतेः स्तुतिकर्मणः इति यास्कः।"[17] यास्क ने जरस्व की व्याख्या करते हुए जरस्व को स्तुत्यर्थक कहा है। इसके बाद जो पाप को धारण करने वाला और दुःख को उत्पन्न करने वाला है वह पाप सहित आवें। उषा सहायता प्राप्त कर रथादि साधन के द्वारा हम विजय श्री वरण कर लें। उषा अन्धकारावृत अभिलषित सम्पत्ति का अन्वेषण करती हैं। यदि सत्य कहा जाय तो आप ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रबुद्ध हो, अत्यन्त उत्कृष्ट प्रकाशमान हो, अग्नि आह्वनीय के लिए प्रज्ज्वलनशील हो, अभिलषित वस्तु प्रदान करने वाली हों।[18]

अनेकों विशिष्ट लक्षणों से युक्त रूपवान, दोनों अहोरात्र देवता (उषा और रात्री) प्रतिबन्धकों से विहीन होकर परिक्रमण करते हैं। दोनों की गति भिन्न हैं दोनों एक दूसरे के विपरीत गतिशील हैं। उषा जाती हैं तो निशा आती हैं निशा जाती हैं तो उषा आती हैं। दोनों बहन होने पर भी विपरीत दिशा की ओर गमनशील रहती हैं। दोनों देवताओं में एक रात्रि देवता के रूप में निगूढ़ विपर्यगामी वस्तुओं को छुपाने का कार्य करते हैं तथा दूसरे उषा देवता जो अत्यन्त ज्योतिष्मान रथ पर आरूढ़ होकर उनको प्रकाशित करते हैं।[19] *ऋग्वेद1*.123.8 पर आचार्य सायण ने अपने भाष्यमें कहा है—आज उषा देवी जैसी दीख रही हैं वैसी ही दूसरे दिन भी विशुद्ध हैं। जब नक्षत्र धूमिल पड़ जाते हैं सूर्य उदयाचल की ओर पदार्पण नहीं करतेहैं वही उषस् काल के रूप में गृहीत हुआ काल घटी का होता है। "पञ्च-पञ्च उषः कालः" ऐसा स्मृतिकार ने माना है। इसका तात्पर्य है कि सूर्योदय से पाँच घड़ी (2.30 घंटा) पहले उषा काल होता है।

इस काल में इक्कीस घटिका द्वारा छब्बीस परा से समन्वित होकर सूर्य प्रतिदिन पाँच हजार उनसठ योजन की यात्रा मेरू प्रदेश से प्रदक्षिण क्रम से परिभ्रमण करते हैं। उस समय जहाँ-जहाँ लंकादि भू-प्रदेश में सूर्य जाते हैं, उनसे पहले तीस योजन उषा देवी भी जाती हैं। जिस देश में सूर्य जाते है उससे पहले ही तीस योजन

की दूरी उषा तय करती हैं। प्रतिदिन वह उषा वरुण या सूर्य के निर्धारित स्थान से तीस योजन आगे विद्यमान होती हैं। उषा उदयकाल में ही गमन आगमन रूप कार्य का सम्पादन करती हैं। उषा दिन के प्रथमांश भाग के आगमन का समय जानती हैं। वह स्वयं ज्योतिष्मती देदीप्यमान एवं श्वेतवर्ण वाली हैं। यद्यपि अन्धकार से उत्पन्न नहीं होती तथापि कृष्ण से तमसः सकाशात् उनकी उत्पत्ति हुई है। निशानंतर जायमान होने से यह निर्वचन सायण ने किया है। इसीलिए मन्त्र में भी कृष्ण वर्ण से उनकी उत्पत्ति जतायी गयी है।

उषा सूर्य लोक में मिश्रित होते हुए भी उनको हानि नहीं पहुँचाती बल्कि उनके शोभा को अलंकृत करती हैं।[20] कन्या के सदृश अपने शरीरावयवों को प्रसारित करके उषा दीप्तिमान सूर्य को प्राप्त होती हैं। तत्पश्चात् यौवनोपेता युवती की तरह स्वामी सूर्य के सामीप्य से जाते हुए, अत्यन्त प्रकाश सम्पन्न होकर, मन्दहास्य से मण्डित होती हुई, वक्षस्थल में समस्त भावों को मिश्रित करती हुई दन्तस्थानीय नीलपीतादि रूपों से अलंकृत होकर अपने हृदय देश को, सूर्य के सम्मुख खोल देती हैं। जिस प्रकार माता द्वारा कन्या के शरीर को प्रक्षालित कर दिये जाने पर कन्या का रूप उज्ज्वल हो जाता है उसी प्रकार आप भी सभी लोगों के दर्शन के लिए अपने सौन्दर्य की शोभा को प्रकाशित करती हैं। कल्याणशीला हे उषा! आप अन्धकार को दूर कर दें। अन्य विगत उषाएँ आपकी कांति को व्याप्त नहीं करेंगी।

अश्वों और गायों से युक्त सुसज्जित एवं सम्पन्न हर समय सूर्य के किरणों के साथ अन्धकार के निवारणार्थ चेष्टादि विशिष्ट गुणों से युक्त उषा देवी अन्न और दुग्ध देने वाली गौओं का आनयन करें जिसकी प्राप्ति के लिए हम लोग सुन्दर-सुन्दर स्तोत्रों द्वारा विधि पूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं।[21] द्युलोक की दुहिता उषा आप प्रकाश उत्पन्न कर दें। हम लोगों के प्रति विलम्ब न करते हुए त्वरित प्रभात को ऐसे फैला दें जिस प्रकार राजा चोर या शत्रु को संतप्त करते हैं। प्रभात करने में विलम्ब न करने की जो चर्चा की गयी है उससे उपासकों का यह भाव उपलक्षित होता है कि यदि उषा देवी प्रभात को विलम्ब से प्रसारित करेगीं तो सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा उन्हें सन्तप्त कर देंगे। इस भय से अविलम्ब प्रभात की प्रार्थना उषा से की जाती है ताकि उषा को, सूर्य रश्मियाँ संतप्त न कर सकें। हे शोभन प्रादुर्भाव करने वाली उषा वाजिधन की प्राप्ति के लिए याज्ञिक लोग आपका स्तवन कर रहे हैं।[22]

याज्ञिक उपासकगण, सर्वलक्षण सम्पन्ना सुनेत्री उषा देवी की स्तुति करते हुए अभिलाषा करते हैं जो लोगों द्वारा स्तुत्य हुए हैं, जिनकी स्तुति नहीं की गयी है, वे सभी लोग आपसे अभिलषित वस्तुओं की कामना करते हैं। हे उषा! हम लोगों ने जिन-जिन वस्तुओं की प्रार्थना की है और जिन-जिन वस्तुओं की प्रार्थना नहीं की है, उन सब वस्तुओं को प्रदान करने में आप समर्थ हैं। आप स्तोताओं की हिंसा नहीं करतीं, बल्कि अविद्या रूपी निशाजन्य तम का विनाश करती हैं। अश्व प्राप्ति के लिए लोग आपकी स्तुति करते हैं।[23]

उपर्युक्त सूक्त में अश्व लाभार्थ उषा देवी की दश मन्त्रों में जो स्तुति की गयी है, वह एक लौकिकी सत्ता के साथ अलौकिकी सत्ता की स्थापना करती सी दिखती हैं, जिसे हम व्यवहारिकी सत्ता एवं परमार्थिकी सत्ता

के रूप में व्यक्त कर सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी की पुष्टि करते हुए कहा है-"मोह निशा सब सोव निहारा। देखहि स्वप्न अनेक प्रकारा।" वैदिक वादियों के लिए यह एक कुञ्जिका है जिसमें उषा रूपी कुञ्जिका प्राप्त कर अविद्या रूपी अथवा मोह रूपी निशा के निर्मूलन की आकांक्षा एवं प्रभात (उषःकाल) के प्रकट होने की कामना की गयी है। इससे यह सिद्ध है कि कृष्णवर्ण की जो उषा की बहन निशा हैं, वह समस्त प्राणियों को कर्मों से विरत कर अविद्या की ओर ले जाने वाली एक मायाविनी शक्ति हैं जिसका निवारण मात्र उषा द्वारा ही सम्भव होता है। यहाँ पर दश बार जो अश्व लाभार्थ उषा का स्तवन किया गया है इससे स्पष्ट होता है कि ये शरीर में विद्यमान रहने वाली दश इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ) हैं। साथ ही इन्द्रियों का नायक मन, अन्तःकरण के साथ जुड़ा हुआ है। वह मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार से संयुक्त होकर निशा की ओर इन्द्रियों को प्रेरित करता है। इसकी पुष्टि के लिए उषा देवी से बार-बार प्रभूत धन, गोधन एवं वाजिधन, पुत्र-पौत्रादि धन प्राप्ति की आकांक्षा व्यक्त हुई है, वह भौतिक वस्तु के साथ-साथ द्वि-अर्थक होते हुए आध्यात्मिक तथ्य को भी पिरोये हुए हैं। इसीलिए इन्द्रिय जगत् को पुष्ट करने के लिए बार-बार "अश्वसूनृते" ऐसा मन्त्र में कहा गया है।

उषा देवी को दशवें मण्डल में अश्विनों के साथ, चन्द्रमा के साथ तथा अनेकों देवताओं के साथ संयुक्त किया गया है, जो उषाओं के पूर्व दिन के केतु की तरह उभरता है। जब अश्विनों का रथ जुड़ता है तब दिवों दुहिता उत्पन्न होती हैं।[24] इसी मण्डल के अड्सठवें सूक्त में कहा गयाहै-वृहस्पति ने प्रकाश द्वारा अन्धकार का निर्मूलन कर उषा, सूर्य और अग्नि को आविष्कृत किया।[25] एक स्थान पर प्रस्तुत किया गया है कि मृतमनुष्यों की आत्मा सूर्य और उषस् में जाती है।[26] इन अरुणियों की गोद में पितृगण विराजमान रहते हैं सम्भवतः इन 'अरुणियों' से उषाएँ ही सम्बद्ध प्रतीत होती हैं।[27] उषा देवी की यज्ञ में स्तुति की जाती है तथा यज्ञ से ही इनका स्वागत किया जाता है। बुद्धि और कर्म के साथ यज्ञ में इनका आह्वान किया जाता है। ये देवियाँ द्युलोक में वास करने वाली स्त्री के समान गुणवती, आभूषणों से सुशोभित, कांति से युक्त तेजस्वी रूप और सौन्दर्य को धारण करने वाली हैं। ये अपने तेज से एक ही स्थान पर अपनी बहन रात्रि को अपसृत कर आगे बढ़ती हैं।[28]

उषा देवी और रात्रि देवी मानवों के लिए सुषुप्ति से उत्पन्न सुख प्रदान करती हैं, वे यज्ञ भाग की अधिकारिणी हैं। वे परस्पर मिलकर यज्ञ स्थल में बैठती हैं जो अत्यन्त गुणवती, अत्यन्त शोभा से युक्त और उज्ज्वल 'श्री' धारण करने वालीहैं। अनेक विशेषताओं को रखने वाली द्युतिमती उषा देवी से रात्रि देवी ने अपनी भगिनी के सदृश सम्बन्ध स्थापित किया और उषा ने उनको अपने दिशा से विपरीत दिशा की ओर भेज दिया।[29] कृष्ण वर्ण का अन्धकार दिखाई दे रहा है, याज्ञिकों के पास सब ढ़क गया है। याज्ञिकों द्वारा उषा देवी की प्रार्थना की गयीहै—जैसे मेरे ऋण का परिशोधन कर ऋण को दूर कर देती है, उसी तरह अन्धकार को नष्ट कर दें।

ऋग्वेद में यद्यपि देवताओं की अपेक्षा देवियों का बहुत न्यूनतम स्थान है फिर भी सौर देवताओं में उषा देवी की दिव्यता लगभग बीस सूक्तों में तथा अन्य देवताओं के सूक्तों में भी यत-तत्र झलकती है। प्रतिपादित ऋग्वेदीय मण्डल सूक्तों द्वारा यह स्पष्ट है कि सौर देवताओं में से एक विशिष्ट शक्ति को धारण करने वाली अनन्यतम देवता उषा देवी हैं, जो प्राणियों को सुख प्रदान करने वाली तथा लोगों को प्रभात के द्वारा आनन्दानुभूति एवं अनेक भौतिक साधनाओं से ओत-प्रोत कर चिरकाल तक तम रूपी अविद्या का विनाश कर, ज्ञान रूपी प्रभात को विस्तीर्ण करती हैं। जिन अरुणिम गोद में अर्थात् उषाओं की गोद में पितरों के विश्राम करने का वर्णन है, मर्त्य लोक के मृत मनुष्यों की आत्माएँ वहीं द्युलोक में उषा के पास जाती हैं। इससे सिद्ध है उषा देवी समस्त जीवों की आधारशिला हैं, जिनके द्वारा जीवन का संचालन होता है एवं प्रत्येक प्राणियों की आयु क्षीण की जाती है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि के कवित्व भाव में शृंगार को भरने वाली यह अभिमानी देवता हैं। मैक्डानल्ड के अनुसार उषा वैदिक काल की सर्वाधिक मनोरम संवेदना की रचना है। शक्ति, ऐश्वर्य, दान, बुद्धि आदि से समन्वित ये द्युलोक की पुत्री, नैतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्धशालिनी हैं। ये सत्यवादी और कपट रहित हैं। सभी जीवों पर इनका अक्षुण्ण साम्राज्य है। इनके विधानों का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता है। किसी भी साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतों में इनसे अधिक आकर्षक स्वरूप किसी देवता का उपलब्ध नहीं होता, न ही इनके स्वरूप की तेजस्विता याचना करने वाले अथवा यजन करने वाले याचकीय एवं याजकीय कल्पनाओं द्वारा किसी प्रकार अवरुद्ध हुई हैं।

इस प्रकार इस निष्कर्ष को स्वीकारा जा सकता है कि सौर देवताओं में स्थित उषा देवी का व्यक्तित्व किसी भी सौर मण्डलीय देवता से कम नहीं है और यज्ञ सम्बन्धी सन्दर्भों के कारण कहीं भी उसके अल्पीकरण का प्रयास भी नहीं हुआ है। यह सिद्ध है कि उषा देवी प्रभात के पूर्व ब्राह्ममुहूर्त की पूजनीया एवं स्मरणीया देवी हैं, जिनके स्तवन, पूजन और स्मरण मात्र से समस्त कामनाओं की पूर्ति एवं भौतिक, आध्यात्मिक दोनों प्रकार की अविरल आनन्दानुभूति होती है। तन्त्रागम में इसे प्रधान देवी भुवनेश्वरी कहा गया है जो उदित होते हुए सूर्य के समान वर्णा होती है। यही देवी ब्रह्मस्वरूपिणी भगवती श्रीविद्या है तथा नक्त देवी रात्रिरूपिणी महाकाली है। अत: इसके वैदिक स्वरूप के साथ आगमिक स्वरूप भी विचारणीय है।

सन्दर्भ

1. उषा वष्टे कांति कर्मणः उच्छतेरितरा मध्यमिका।तस्य एषा भवति। (*निरुक्त* 12.5)
2. (यास्क., *निरुक्त*, 2.18)
3. दुर्गाचार्य कृत *निरुक्त* के ऋज्वर्थाख्य व्याख्या में। (पृ. 93, टिप्पणी-3, *अमरकोश* 3.4.18)
4. उषोनामान्युत्तराणि षोडश। यास्क द्वारा उषा के नामों का निर्वचन।। (*निरुक्त*, 2.18)
5. तम उछत्युषा नक्तानक्तीमां हिमबिन्दुभिः।
   अपि वाव्यक्तवर्णेति नेञ्पूर्वाश्चेरिदं भवेत्।। (*बृहद् देवता*, 3.9)

6. सा हि दोषा भवत्यादौ निशीथे सा तमस्वती।
नाम्ना भवत्युषाश्चैव सैषा प्रागुदयाद्रवेः।(*बृहद् देवता*3.10)
7. यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः ।
प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम्।। (ऋग्वेद, 4.51.5)
8. अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु।। (अथर्ववेद, 3.7.7)
9. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य ।
यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः॥ (*ऋग्वेद,* 1.113.9)
10. एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातिः ।
अजीजनन् त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम्।। (*ऋग्वेद*, 7.78.3)
11. कृष्णं कृश्यतेर्निकृष्टो वर्णः इति यास्कः।। (*निरुक्त*, 2.20)
12. पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः।
कृष्णादुदस्थादर्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय।। (*ऋग्वेद,* 1.123.1)
13 (*निरुक्त,* 2.22)
14. यदद्य भागं विभजासि नृभ्य उषो देवि मर्त्यत्रा सुजाते।
देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचसि सूर्याय।। (*ऋग्वेद*, 1.123.3)
15. गृहं गृहमहना यातयच्छा दिवेदिवे अधि नामा दधाना।
सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद् भजते वसूनाम्।। (*ऋग्वेद* 1.123.4 पर सा.भा.)
16. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व ।
पश्चा स दध्या यो अघस्य धाता जयेमतं दक्षिणया रथेन ।।(*ऋग्वेद* 1.123.5 पर सा.भा.)
17. (या.*निरुक्त*, 10.8)
18. उदीरतां सूनृता उत्पुरन्धीरूदग्नयः शुशुचानासो अस्थुः ।
स्पार्हा वसूनि तमसापगूह्याविष्कृण्वन्त्युषसो विभातिः।। (*ऋग्वेद* 1.123.6)
19. अपान्यदेत्यभ्यन्यदेति विषुरूपे अहनी स चरेते।
परिक्षितोस्तमो अन्या गुहाकरद्यौदुषाः शोशुचतारथेन।। (*ऋग्वेद*, 1.123.7)
20. जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट श्वितीची।
ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती।। (*ऋग्वेद*, 1.123.9)
21. उत नो गोमतीरिष आ वहा दुहितर्दिवः।
साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः सुजाते अश्वसूनृते।। (*ऋग्वेद*, 5.79.8)
22. व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः।
नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ।। (*ऋग्वेद*, 5.79.9)
23. एतावद् वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि।
या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते।। (*ऋग्वेद*, 5.79.10)

24. (क) रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना । यस्य योगे दुहिता जायते दिव।। (*ऋग्वेद*, 10.39.12)
(ख) नवो नवो भवति जायमानोऽह्नांकेतुरुषसामेत्यग्रम्। (*ऋग्वेद*, 10.85.19)
25. सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।। (*ऋग्वेद* 10.68.9)
26. यत्ते सूर्य यदुषसं मानो जगाम दूरकम्।
तत् तआ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।। (*ऋग्वेद* 10.58.8)
27. आसीनो सो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मत्र्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात।। (*ऋग्वेद*, 10.15.7)
28. (क) पितुभृतो न तन्तुमित् सुदानवः प्रति दध्यो यजामसि।। (*ऋग्वेद* 10.172.3)
(ख) उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता।। (*ऋग्वेद*, 10.172.4)
29. निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः। (*ऋग्वेद* 10.127.3)

असिस्टेंट प्रोफेसर
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी
चलवाणी : 7376016995

गोपीचन्दन उपनिषद् का सारार्थविचार

डॉ. शुभ्रजित् सेन एवं डॉ. शान्तिगोपाल दास

गोपीचन्दन ! पापघ्न ! विष्णुदेहसमुद्भवः।
चक्राङ्कित ! नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव।। — *गोपीचन्दनोपनिषद्, पृ. 67*

गौड़ीय वैष्णव परम्परा के अनुसार, भगवान् विष्णु के मंत्रों का उच्चारण करते समय गोपी-चंदन, या द्वारका की पवित्र मिट्टी, शरीर पर बारह स्थानों पर लगाई जाती है। यह प्रक्रिया किसी भी मनुष्य के शरीर को शुद्ध करती है, इसे भगवान् के मंदिर के रूप में नामित करती है। शुद्धिकरण के अलावा, तिलक पहनने वाले को भूतों, बुरे प्रभावों, बुरे सपनों, दुर्घटनाओं और कई अन्य चीजों से भी सुरक्षा प्रदान करती है। यह व्यक्ति के मन को शांत रखता है और उसे लगातार भगवान् कृष्ण को याद करने की अनुमति देता है।

यद्यपि *गोपीचन्दन उपनिषद्* मुक्तिक उपनिषदों में शामिल नहीं है, तथापि गोपीचन्दन उपनिषद् को वैष्णव समुदाय के एक महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ के रूप में जाना जाता है। गोपीचंदन नामक एक ही नाम से दो उपनिषद् प्राप्त होते हैं। वैष्णव जगत् में चंदनधारणा या ऊर्ध्वपुण्ड्र विधि पर केन्द्रित होकर जो कुछ उपनिषद् लिखे गये हैं, उनमें गोपीचंदन का स्थान महत्त्व की दृष्टि से सर्वोच्च है। गोपीचंदन शब्द की व्युत्पत्ति 'गोपीनां चन्दनम्' (षष्ठीतत्पुरुष समास) अर्थात 'गोप्यो नाम विष्णुपत्न्यः तासां चन्दनम् आह्लादनम्' है। चंदन शांति का एक अद्भुत कारण है—'चन्दनं तुष्टिकरणम्'। तुष्टिकरण शब्द का अर्थ है ब्रह्मानन्दकारण। और, गोपी शब्द का अर्थ है 'रक्षक'। दूसरे शब्दों में, गोपी नरक, मृत्यु और महान् भय से बचाने वाली है। ये विष्णु-गोपियाँ संसार की रचना और स्थिति की कारण महामाया हैं। लेकिन यहाँ विष्णु ही ब्रह्मा हैं. इसलिए उपनिषदों के अचूक शब्द हैं - 'कश्चाह्लादो गोपीचन्दनसंक्तमानुषाणां पापसंहरणाच्छुद्धान्तःकरणानां ब्रह्मज्ञानप्राप्तिश्च य एवं वेद'।[1] गोपी शब्द में दो अक्षर हैं और चन्दन शब्द में तीन अक्षर हैं। अर्थात् गोपीचंदन के पाँच अक्षर हैं। यदि इस पंचाक्षर मय गोपीचंदन को शरीर में धारण कर लिया जाए तो उसे अक्षयपद की प्राप्ति होती है।

परब्रह्मानन्द स्वरूप और पुरुषोत्तम[2] श्रीकृष्ण सभी लोगों के सर्वोत्तम सौन्दर्य और आनन्द के लिए गोपिकाओं के पास मथुरापुरी में प्रकट हुए[3]। कृष्ण पूजा के एक और पुण्य क्षेत्र गोकुल में भगवान् की पूजा की जाएगी। महान गोपिनियाँ परब्रह्मस्वरूप श्री कृष्ण की महिमा सुनेंगी। गोपियों और गोविन्दों द्वारा उत्पादित

चंदन गोपीचंदनरूप लाभ यानी ब्रह्मलाभ के बराबर है। मूलतः इस उपनिषद् का मुख्य विषय ब्रह्म की प्राप्ति का सिद्धांत है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र उपनिषद् की भाँति यह उपनिषद् भी ऊर्ध्वपुण्ड्र विधि का वर्णन करता है। नारद ने प्रणाम किया और भगवान् वासुदेव से ऊर्ध्व पुंड्र विधि यानी तिलकधारण प्रणाली के बारे में पूछा। यानी उसका तरीका है क्या? क्या किसी उत्पाद से तिलक ढकना चाहिए? कहाँ लगाना चाहिए यह तिलक? रेखाएं कैसे बनाएं? क्या यह जप द्वारा किया जा सकता है? उपयोगकर्ता कौन है? क्या यह तिलक या ऊर्ध्वपुण्ड्र फल देगा या लाभ देगा? इस उपनिषद् का महत्त्व या चर्चा बिंदु भगवान् द्वारा सनत्कुमार के प्रश्न के उत्तर में प्रस्तुत किया गया ज्ञानवर्धक संवाद कथन है। भगवान् ने उत्तर दिया कि यह तिलक वैकुण्ठ से उत्पन्न हुआ है। यह चंदन भगवान् की अत्यंत प्रिय वस्तु है। गोपीचंदन का नाम गोपीचंदन इसलिए पड़ा क्योंकि ब्रह्मा देवों द्वारा निर्धारित वैकुंठ से निकाले गए और द्वारका में भगवान् द्वारा स्थापित चंदन कंकुमादि के साथ मिश्रित विष्णुचंदन को गोपियों द्वारा प्रतिदिन लगाया जाता था। यह गोपीचंदनरूपी विष्णु पाप से मुक्ति और मुक्ति का अभ्यास है—'वासुदेवो वैकुण्ठस्थानोद्भवं मम प्रीतिकरं मद्भक्तैर्ब्रह्मादिभिर्धारितं विष्णुचन्दनं वैकुण्ठस्थानादाहृत्य द्वारकायां मया प्रतिष्ठितं चन्दनं कुङ्कुमादिसहितं विष्णुचन्दनं ममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं गोपीभिः प्रक्षालनाद् गोपीचन्दनमाख्यातं मदङ्गलेपनं पुण्यं चक्रतीर्थान्तःस्थितं चक्रसमायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवति।[4]

'इमं मे गङ्गे' – इस मन्त्र का जप करते हुए जल लेना चाहिए और 'विष्णोर्नुकं' – मन्त्र का जप करते हुए जल को मलना चाहिए। 'अतो देवा अवन्तु नः'....आदि ऋक्-मंत्रों द्वारा और विष्णु गायत्री द्वारा तीन बार जप किया गया—

शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम्।[5]

इस मन्त्र का जाप करके गृहस्थ भगवान् का ध्यान करते हुए ललाटादिस्थान में अनामिका अंगुलियों से केशवादि बारह नाम का पाठ करेगा। ब्रह्मचारी माथे, कण्ठ, हृदय और अग्रभाग पर वैष्णव गायत्री के माध्यम से कृष्णादि पंचनाम का जाप करेंगे। यति तर्जनी से सिर, माथे और हृदय पर प्रणव का स्मरण करे। ललाट में प्रणव के नामाङ्कन से परमहंस का पलड़ा भारी हो जाएगा। तब योगी 'ब्रह्मैवाहमस्मीति' के इस स्वरूप का विचार करके ईश्वर की कृपा प्राप्त करेगा – 'तत्र दीपप्रकाशं स्वमात्मानं परं ब्रह्मैवाहमस्मीति भावयन् योगी मत्सायुज्यमवाप्नोति"। अथान्यो हृदयस्योर्ध्वं पुण्ड्रं मध्ये बहुहृदयकमलमध्ये वा स्वमात्मानं भावयेत्।'[6]

चंदन से अभिषेक करने वाली गोपी को परमपद की प्राप्ति होती है। पुनः, जो सदैव गोपीचंदन लगाता है, उसे देवेन्द्रपद की प्राप्ति होती है। जिस स्थान पर गोपीचंदन की पूजा होती है, वह स्थान महान् हो जाता है। जो व्यक्ति गोपीचंदन की पूजा करता है उसका सभी सम्मान करते हैं। वह सदाचारी, शुभमय और जितेन्द्रिय है—**'सदाचारः शुभकल्पो मितहारी जितेन्द्रियः'**। उनकी मुलाकात साक्षात् विष्णु से होती है। व्रत करने से

ऋषियों को जो फल मिलता है, उससे करोड़ गुना अधिक फल गोपीचंदन धारण करने से मिलता है—**'ततः कोटिगुणं पुण्यमेत्येवं मनुरब्रवीत्'**। दूसरी ओर, गोपियों द्वारा चंदन के सेवन से उपचार हुआ। इस गोपीचंदनधारण से धर्म, धन, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। एक हजार अग्निष्टोम और सौ बार वाजपेय याग गोपीचंदनधारण के फल हैं—

अग्निष्टोमसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
तेषां पुण्यमवाप्नोति गोपीचन्दनधारणात्।।[7]

पुनः गोपीचंदन दान करने से अश्वमेघ यज्ञ के बराबर फल मिलता है। शास्त्रों में कहा गया है, जैसे गंगा का कोई तीर्थ नहीं है, वैसे ही गोपीचंदन के समान संसार में कोई शुद्धि नहीं है। गोपि के पास कुङ्कुम से भी अधिक महत्त्व चंदन का है। यह चंदन भुक्ति और मुक्ति का दाता है। चंदन भक्ति का प्रतीक है। इसलिए चंदन की महिमा वैष्णव समाज में सर्वविदित है।[8] तो गोपीचंदन उपनिषद् में कहा गया है –

गोपीचन्दनपङ्केन ललाटं यस्तु लेपयेत्।
एकदण्डी त्रिदण्डी वा स वै मोक्षं समश्नुते।। 1।।

गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो यं यं पश्यति चक्षुषा।
तं तं पूतं विजानीयाद्राजभिः सत्कृतो भवेत्।। 2।।

ब्रह्मघ्नश्च कृतघ्नश्च गोघ्नश्च गुरुतल्पगः।
तेषां पापानि नश्यन्ति गोपीचन्दनधारणात्।। 3।।

गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो म्रियते यत्र कुत्रचित्।
अभिव्याप्यायतो भूत्वा देवेन्द्रपदमश्नुते।। 4।।

महाप्रभु और उनके भक्तों ने मध्यकाल में इसी गोपीचंदन धारण या तिलक धारण के माध्यम से विश्व में वैष्णव भक्ति का प्रचार किया।

तथ्यसूत्राणि

1. *वैष्णवोपनिषत्* (पृ. 67)
2. 'स एताश्चोपनिषद्वैवस्वऽतेन्तरे सगुणं ब्रह्म विधिनानन्दैकरूपं पुरुषोत्तमरूपेण मथुरायां वसुदेवसद्मन्याविर्भविष्यति।
3. "तत्रभवत्यः सर्वलोकैः कृष्णसौन्दर्यं क्रीड़ाभोगागोपिकास्वरूपैः परब्रह्मानन्दैकरूपं कृष्णं भजिप्यथ। तत्र श्लोकौ –
   इति ब्रह्मवरं लब्ध्वा श्रुतयो ब्रह्मलोकगाः।
   कृष्णमाराधयामासुर्गोकुले धर्मसंकुले।।
   श्रीकृष्णाख्यपरं ब्रह्म गोपिकाः श्रुतयोऽभवन्।
   एतत्संभोगसंभूतं चन्दनं गोपिचन्दनम्"।।
4. तदेव

5. *वैष्णवोपनिषत्* (पृ. 66)
6. *वैष्णवोपनिषत् (पृ. 67)*
7. तत्रैव (पृ. 68)
8. 'कामदं मोक्षदं चैव इत्येवं मनुयोऽब्रुवन्।। (गौपीचन्दन उपनिषत्, 10)

ग्रन्थपञ्जी

— *उपनिषत् संग्रह :* जगदीश शास्त्री सम्पादित, मोतिलाल वनारसीदास पावलिशार्स, दिल्ली, 1998 (प्रथम संस्करण, पञ्चम मुद्रण)।

— *श्रीचैतन्यचरितामृत :* गीता प्रेस, गोरक्षपुर, 2004।

— *श्रीमद्भागवत महापुराण* (दो खण्ड) (2008). गीता प्रेस, गोरक्षपुर ।

— Tripurari, B.V. *Gopal-tapani Upanisad.* Audarya Press. 2004.

Deussen, Paul; Bedekar, V.M.; Palsule. G.B. *Sixty Upanishads of the Veda*, MLBD, Delhi, 1997.

— Hume, R.E. . (Trans) *The Thirteen Principal Upaniaṣds*, Oxford, 1934.

— Madhavananda, Swami, *Minor Upaniṣads, Advaita Ashrama*, Kolkata, 1988.

Olivelle, Patrick. *Upaniṣads,* Oxford University Press, New York, 1998.

— Das, Chittaranjan, *Studies in medieval religion and literature of Orissa*. Visva-Bharati. Santiniketan, 1951.

— De, S.K..Early *History of Vaishnava faith and Movement in Bengal*, F.K.L.M, Kolkata, 1961.

— Desai, S.G.. *A Critical Study of the Later Upaniṣads*, Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, 1996.

सहायक अध्यापक, संस्कृत विभाग
गौडवङ्ग विश्वविद्यालय,
पो. मालदा, (पश्चिम बंगाल) 732103
8100232021
एवं
सहायक अध्यापक, वुनियादपुर महाविद्यालय,
वुनियादपुर, 733121

नाथ पन्थ का दर्शन एवं साधना

डॉ. आदित्य आंगिरस

भारतीय धर्म साधनाओं का इतिहास को देखें तो यह इतना उलझावदार है कि कई तथ्य निश्चित रूप से कहने में गंभीर शोध की आवश्यकता पडती है। उदाहरण के लिये यदि नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो कई तथ्य हमारे सामने स्वत: ही आने लगते हैं जैसे पातञ्जल योग के प्रभाव को पूर्ण रूप से नकारा नहीं जा सकता और न ही काश्मीर शैव दर्शन, शैव साधना को और न ही तत्कालीन प्रचलित शाक्त साधना को क्योंकि इन सभी सम्प्रदायों का नाथ परम्परा के उदय एवं विकास में व्यापक प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जहाँ शिव को परम गुरु माना गया है।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में योग का संदर्भ वैदिक साहित्य में हमें देखने को मिलता है जो ध्यान योग के नाम से अभिहित है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ — *श्वेताश्वतरोपनिषद, 1.3*

वास्तव में इस मन्त्र में दो बातें प्रमुख रूप से हमारे सामने आती हैं जिन्होंने संभवत: भारतीय ही नहीं अपितु विश्व साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला है एवं इसका पतञ्जलि मुनि द्वारा रचित *योगसूत्र* में वर्णित धारणा ध्यान समाधि का आधार हो सकता है यद्यपि वैदिक ध्यान योग का प्रभाव पतञ्जलि काल से पूर्व भी देखा जा सकता है एवं कौल साधना का आधार हमें अथर्ववेद में देखने को मिल सकता है। उदाहरण के लिये सर्वतोभद्र यन्त्र आदि में कौल एवं तन्त्र साधना का आरंभिक रूप देखने को मिल जाता है। यदि धर्म साधना के इतिहास को ध्यान से देखते हैं तो हम पाते हैं कि पातञ्जल योग परम्परा धर्म साधना के इतिहास में विशेषत: दो रूप में चली जिसमें पातञ्जल योग सूत्र में कोई बदलाव नहीं किया गया। ऋषि मार्कण्डेय की कथा इन्हीं संदर्भों मे द्रष्टव्य है। परन्तु वहीं दूसरी ओर कौलिक साधनाओं के पक्षधर साधकों ने इसमें व्यापक रूप से उलट फ़ेर किया। इसका आधार यह रहा होगा कि यम एवं नियम का ही यदि साधक अनुवर्तन करता रहा तो साधक केवल उसी में उलझ कर रह जायेगा। परन्तु यह एक सर्वसम्मत तथ्य रहा कि **"योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्।"** इन्हीं संदर्भों में गुरु गोरखनाथ का नाम उदहरण के रूप में लिया जा सकता है।

इन्हीं संदर्भों में यदि संस्कृत साहित्य के इतिहास को देखा जाये तो कुछ एक तथ्य हमारे सामने स्वत: ही उभर कर आते है जैसे रावण का श्रेष्ठतम तन्त्रविद् होना। क्योंकि यह माना जाता है। रावण ने यम, प्रजापति, काल आदि को अपने तन्त्र ज्ञान के आधार पर बन्दी बनाया हुआ था। इन्हीं संदर्भों मे अहिरावण की युद्ध समय में तान्त्रिक पूजा एवं राम की शक्ति एवं शिव पूजा द्रष्टव्य है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वैदिक काल में साधना का सात्त्विक रूप मिलता है वहीं पौराणिक काल में धर्म साधना के पद्धतियों में व्यापक रूप से बदलाव आये हैं एवं जाति व्यवस्था कुछ कठोर दिखाई पडती है। पौराणिक काल में वेदाध्ययन संभवत: केवल ब्राह्मण जाति ही करती थी एवं किसी अन्य जाति का इसमें कोई अधिकार नहीं था क्योंकि प्रत्येक पुराण में कथा कहने वाले को सूत नाम से ही अभिहित किया गया। वहीं दूसरी ओर व्यास शब्द इस काल के आते आते एक उपाधि बन गयी थी। यह बात अपने आप में महत्त्वपूर्ण है कि सूत द्वारा कही जाने वाली कथा कहने वाला स्थान सदा ही नैमिषारण्य रहा है जिसमें समाज का किसी भी वर्ग या जाति का बन्धन नहीं था क्योंकि मुक्ति एवं सद्विचार ग्रहण करने का अधिकार मनुष्य समाज में समान रूप से विद्यमान था । इसी प्रकार *देवी भागवत पुराण* की स्थिति थी जहाँ शक्ति की पूजा सांसारिक जीव को आत्यन्तिक पीडा से मुक्ति दिलाने हेतु सक्षम है। *श्री दुर्गा सप्तशती* में वर्णित समाधि नामक वैश्य एवं राजा जो अपने भौतिक कारणों से दु:खी हैं वे देवी के वरदान के कारण ही चक्रवर्ती सम्राट् एवं मोक्ष के अधिकारी बनते है। वहीं दूसरी ओर शबरी की कथा के माध्यम से समाज में साधना का अधिकार समान रूप से सभी के लिये उपलब्ध है फ़िर चाहे भील हो अथवा संथाल । यह बात महत्त्वपूर्ण है कि ध्यान साधना में आये बदलाव ने तत्कालीन समाज एवं वन्य जातियों की मानसिकता पर व्यापक प्रभाव डाला जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय धर्म साधनाओं में शाबर तन्त्र शास्त्र का प्रचलन हुआ होगा। वहीं यह भी कहना उचित होगा कि आचार्य शंकर द्वारा शिव गुरु एवं दक्षिणामूर्ति रूप में अर्चना की गई एवं पुष्पदन्त ने शिव को जगत् का आधार मान कर उन्हें समस्त रूप से साधक के लिये कल्याणकारी बताया जिन्होंने शैव मत को व्यापक आधार दिया। कालिदास ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ में शिव एवं पार्वती की स्तुति की चाहे वह *कुमार सम्भवम्* हो अथवा *मेघदूतम्* । कालिदास की शिव के प्रति अष्टमूर्ति नान्दी अपने आप में ही अद्वितीय है। अतः यह कहना तर्क संगत होगा कि इस संसार में केवल शिव एक मात्र ऐसे देवता है जो साधक के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दु:खों से आत्यन्तिक मुक्ति दिलवाने में सक्षम है। वास्तव में इन सभी प्रकार की साधनाओं का चरम केवल मनुष्य को उसके आत्यन्तिक दु:ख से मुक्ति दिलाना था। साधना के इन सभी रूपों ने जहाँ एक ओर मनुष्य को मनुष्य के साथ जोडने का प्रयास किया वहीं व्यक्तिगत साधनाओं ने एक दूसरे को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया जिसके परिणाम स्वरूप साधना पद्धतियों में अलग अलग मत प्रचलित हुए एवं विभिन्न साधना पद्धतियों का विकास हुआ।

वहीं दूसरी ओर यदि भारतवर्ष के धार्मिक एवं राजनैतिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि ईसा की पहली शताब्दी में राजा कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव रहा एवं तत्कालीन धर्म साधनाओं में विभिन्न प्रकार के मत मतान्तर भी प्रचलित थे एवं तत्कालीन जन मानस पर गहरा प्रभाव था। वहीं दूसरी ओर देखें

तो बौद्ध धर्म के इतिहास में महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति तक किसी भी प्रकार के मत अथवा मतान्तर का न तो अनुमोदन किया और न ही किसी मत की स्थापना की। परन्तु बाद में बौद्ध मत में हीनयान एवं महायान नामक दो उप-मत बन गये। एवं हीनयान बाद में यह सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया- वैभाषक एवं सौत्रान्तिक । वैभाष मत की उत्पत्ति कश्मीर मे हुई थी तथा सौत्रान्तिक तन्त्र मन्त्र से संबंधित था। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का सिद्धांत *मंजूश्रीमूलकल्प* एवं *गुह्या समाज* नामक ग्रन्थ मे मिलता है। इसी प्रकार महायान के भी समयानुसार दो उपविभाजन हमारे सामने आते हैं। महायान और हीनयान के दार्शनिक सिद्धांतों में अनेक मतभेद हैं। बुद्ध के जिस क्षणिकवाद की हीनयानियों ने वस्तुओं को अभावात्मक रूप कहकर व्याख्या की, महायानियों ने उसकी शून्यवाद के रूप में प्रतिष्ठा की। इनका कहना है कि शून्यवाद अभावात्मक नहीं है, अपितु व्याहारिक जगत् से परे पारामार्थिक सत्ता विद्यमान है. यह लौकिक विचारों से अवर्णनीय होने के कारण ही अभावरूप कहलाती है. मन-वाणी से अगोचर होने के कारण ही यह शून्य है । हीनयान और महायान के निर्वाण की कल्पना में भी थोड़ा-सा मतभेद है. हीनयान के अनुसार निर्वाण सत्य, नित्य, पवित्र और दुःखाभावरूप है. महायानी इस निर्वाण की प्रथम तीन विशेषताओं को स्वीकार करके अंतिम विशेषता में परिवर्तन करते हैं. इनका निर्वाण वेदान्त की मुक्ति के सदृश है। यह भी द्रष्टव्य है कि हीनयान सम्प्रदाय के ग्रन्थ अधिकतर पाली भाषा में है, जबकि महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है। बौद्धों की द्वितीय संगीति वैशाली में हुई. इसमें ये मतभेद और भी अधिक उभर कर आये. अशोक के समय बौद्धों की तीसरी संगीति के समय तक इनमें 18 सम्प्रदाय (निकाय) विकसित हो गये थे. इनमें 12 स्थविरवादियों के तथा छ महासान्धिकों के थे।

परन्तु महायान सम्प्रदाय ने जीवन का एक नया उच्च आदर्श जनता के समक्ष प्रस्तुत किया उन्होंने कहा कि प्राणिमात्र के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देना ही परम कर्तव्य है। परकल्याण के लिए कुछ भी अदेय नहीं है। इस हेतु उन्होंने बुद्ध के अनेक पूर्व जन्मों की कल्पना बोधिसत्व के रूप में की। बुद्ध पद प्राप्त करने से पहले सिद्धार्थ ने बोधिसत्व के रूप में अनेक जन्म लिए थे. उन्होंने दुःखों से संतप्त प्राणियों की पीडाओं के निवारण के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। महायानियों का कथन था कि मनुष्य को चाहिए कि केवल अपना कल्याण ही न करे, अपितु प्राणिमात्र का भी कल्याण करे. सबका कल्याण करने की प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अपने को महायानी कहा. शेष बौद्धों को केवल आत्म-कल्याण करने में संलग्न होने के कारण उन्होंने हीनयान नाम दिया क्योंकि इसमें बहुत लोग सवार नहीं हो सकते हैं। हीनयान का साधक केवल अपने ही निर्वाण का प्रयत्न करता है जबकि महायान का साधक अधिक उदार लक्ष्य रखता है एवं इसमें जाति वय एवं लिंग भेद का अभाव है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इन सभी मत मतान्तरों ने नाथ पंथ के उद्भव एवं विकास में यथा संभव योगदान दिया। भक्ति और पूजा की भावना के कारण इसकी ओर लोग सरलता से आकृष्ट हुए। नाथ सम्प्रदाय में प्रचलित शून्यवाद वस्तुत: बौद्ध मत में प्रचलित महायान का ही योगदान माना जाता है।

वहीं दूसरी ओर हमारे सामने यह भी तथ्य निश्चित रूप से चौंकाने वाले हैं कि तत्कालीन समाज में कौलिकी साधना का भी प्रचलन व्यापक रूप में रहा जहाँ शिव जी स्वयं तन्त्र के देवता माना गया है। तन्त्र की

प्रामाणिकता सिद्ध करने वाला तन्त्र शास्त्र का प्रत्येक ग्रन्थ शिव के उपदेश से ही प्रारंभ होता है। अतः कहा जा सकता है कि तन्त्र शास्त्र को मानव तक पहुँचाने वाले या तो स्वयं शिव ही हैं अथवा स्वयं देवी । यह तथ्य अपनी आस्था श्रद्धा एवं विश्वास पर आधारित रहा है। इसीलिए वे तांत्रिकों के प्रत्यक्ष आदि देव अथवा आदि देवी है एवं श्रीसाधना के संपृक्त व्यक्ति इस बात को स्वीकार करते हैं कि समस्त भौतिक विस्तार और आध्यात्मिक अनंत तन्त्र का विषय है जिसमें इस समस्त भौतिक संसार को आदि देव अथवा आदि देवी की चिति शक्ति का प्रस्फुटन मात्र कहा जाता है। *वाराही तन्त्र* के अनुसार तन्त्र के नौ लाख श्लोकों में एक लाख श्लोक भारत में हैं। परन्तु तन्त्र साहित्य विस्मृति, विनाश और उपेक्षा का शिकार होता आ रहा है। तन्त्र शास्त्र के अनेक ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं किसी ग्रन्थ में तन्त्र ग्रन्थ के उल्लेख व उद्धरण से ही पता चलता है कि अमुक तन्त्र ग्रन्थ भी था यद्यपि अब मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते है। आज प्राप्त सूचनाओं के अनुसार 199 तन्त्र ग्रन्थ हैं। जिनमें अधिकांश अनुपलब्ध हैं। *वाराही तन्त्र* का यह विवरण कि भारत में एक लाख तन्त्र श्लोक हैं नौ लाख श्लोकों की संख्या से असत्य इसलिए नहीं होता कि मूलतः उन एक लाख श्लोकों का ही विस्तार उन नौ लाख श्लोकों में है। तन्त्र का विस्तार ईसा पूर्व से तेरहवीं शताब्दी तक बड़े प्रभावशाली रूप में भारत, चीन, तिब्बत, थाईदेश, मंगोलिया, कंबोज आदि देशों में रहा। तन्त्र को तिब्बती भाषा में ऋगद कहा जाता है। समस्त ऋगद 78 भागों में है जिनमें 2640 स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इनमें कई ग्रन्थ भारतीय तन्त्र ग्रंथों का अनुवाद हैं और कई तिब्बती तपस्वियों द्वारा रचित हैं। अवतार के बाद बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ तंत्रों को एक नया क्षेत्र मिला अर्थात तन्त्र का लक्ष्य अब दूसरे प्रकार से भी सिद्ध होने लगा। तत्त्वतः भारतीय तन्त्र के मूल तत्त्व ही बौद्ध साधना का अंग बने प्रकारांतर में यत्किंचित् परिवर्तन हो गया। इस दृष्टि से बुद्ध स्वयं तांत्रिक थे। नौवीं से ग्यारहवीं सदी तक बौद्ध-तंत्रों का ही चीनी और तिब्बती भाषा में अनुवाद होता रहा। इन तन्त्र ग्रंथों में गुह्य क्रियाकांड, उपदेश, स्तोत्र, कवच, मन्त्र और पूजा विधि का वर्णन किया गया है। भारतीय तन्त्र शिवोक्त हैं और बौद्ध तन्त्र बुद्धोक्त । भूटान में अतीश का नाम बहुत प्रसिद्ध है । ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार वह बंगाली थे। ग्यारहवीं शताब्दी में उन्होंने तिब्बत और भूटान जैसे देशों में तन्त्र का प्रचार व्यापक रूप से किया गया। इन्हीं संदर्भों में यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेख योग्य है कि तन्त्र ग्रन्थों, विशेषकर त्रिपुरा भाग में चौबीस कापालिकों के नाम हमारे सामने आते हैं जिनके नाम के अन्त में नाथ जुडा हुआ है। इसमें 12 आचार्य हैं एवं 12 ही उनके शिष्य है परन्तु वे स्पष्ट रूप से कौलिक एवं शैवमतावलम्बी हैं। "आदिनाथ: शिव: सर्वेषां नाथानाम् प्रथमो नाथ: । (ततो) नाथसम्प्रदाय प्रवृत इति..." ।

यहाँ एक प्रश्न प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है कि नाथ परम्परा ने केवल शिव को ही क्यों आदिनाथ एवं गुरु माना है। इस प्रश्न का उत्तर हमें शैव सम्प्रदाय एवं शैव भक्ति साहित्य एवं योग सूत्र में व्यापक रूप में हमे देखने को मिलता है जहाँ शिव कालपुरुष, महाकाल, महामृत्युञ्जय आदि रूपों में पूजित हैं। वेदों मे शिव को मृत्युंजय के रूप में समर्पित महान मन्त्र *ऋग्वेद (मण्डल 7.59)* में पाया जाता है। इसे मृत्यु पर विजय पाने वाला महामृत्युंजय मन्त्र कहा जाता है। इस मन्त्र के कई नाम और रूप हैं। इसे शिव के उग्र पहलू की ओर

संकेत करते हुए रुद्र मन्त्र कहा जाता है; शिव के तीन आँखों की ओर इशारा करते हुए त्रयंबकम् मन्त्र और इसे कभी कभी मृत संजीवनीमन्त्र के रूप में जाना जाता है । ऋषि-मुनियों ने महा मृत्युंजय मन्त्र को वेद का ह्रदय कहा है। चिंतन और ध्यान के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले अनेक मंत्रों में गायत्री मन्त्र के समान ही इस मन्त्र का सर्वोच्च स्थान है जो मनुष्य को आत्यन्तिक दु:ख से मुक्ति दिलवाने में न केवल सक्षम है अपितु मनुष्य का इहलौकिक एवं परमार्थिक हित साधन करने वाला माना गया है।

पौराणिक ऋषि मार्कण्डेय की कहानी इन्हीं सर्दभों में द्रष्टव्य है। एक किंवदंती के अनुसार, ऋषि मार्कण्डेय पृथ्वी पर एकमात्र ऐसा व्यक्ति थे जो इस मन्त्र के प्रभाव को भली भांति जानते थे। अपनी अकाल मृत्यु से मुक्ति पाने का उन्होंने शिव को ही चुना। वहीं दूसरी ओर एक किंवदंती के अनुसार राजा दक्ष द्वारा शाप दिए जाने पर चंद्रमा एक बार संकट में था। मार्कण्डेय ने चंद्रमा के लिए दक्ष की बेटी सती को महामृत्युंजय मन्त्र दिया। एक अन्य संस्करण के अनुसार यह ऋषि कहोल को बताया गया बीज मन्त्र है जो भगवान् शिव द्वारा ऋषि शुक्राचार्य को दिया गया था, जिन्होंने इसे ऋषि दधीचि को सिखाया था, जिन्होंने इसे राजा ध्रुव को दिया था, जिसके माध्यम से यह शिव पुराण में पहुंचा। शिव के उग्र पहलू का जिक्र करते हुए इस मन्त्र को रुद्र मन्त्र भी कहा जाता है; शिव के तीन नेत्रों को देखते हुए, त्र्यंबकम् मन्त्र; और इसे कभी-कभी मृत संजीवनी मन्त्र के रूप में भी जाना जाता है।

वहीं दूसरी ओर कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर शिव को वाक् और अर्थ की तरह संयुक्त एवं अभिन्न कहा है तथा जगत् के माता-पिता कहकर वन्दना की है। यह शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप की ही प्रस्तुति है। गोस्वामी तुलसीदास ने भवानी और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप कहा है। एक ओर शिव गहन साधना, तप साधना के देवता हैं तो दूसरी ओर अनूठे दांपत्य प्रेम के, अनुपम प्रणय के, प्रेम, सद्भाव और समाज कल्याण के । वे नृत्य - उल्लास, लास्य और लालित्य के, भाषा, शास्त्रों, कलाओं के प्रवर्तक हैं, तो विनाशकारी रुद्र भी हैं, प्रलयंकर शंकर हैं। शिव का तीसरा नेत्र - विवेक ज्योति के रूप में प्रसिद्ध है। शिव इसी तीसरे नेत्र के, विवेक-ज्योति के कारण ज्ञान के देवता हैं। एलोरा की गुफा में अर्धनारीश्वर की भव्य मूर्ति है। शिव का अर्धनारीश्वर रूप तो भारतीय संस्कृति के सर्वोच्च आदर्श की अभिव्यक्ति है। अत: संस्कृत साहित्य शिव के विभिन्न रूपों की जहाँ वन्दना करता है वही दूसरी ओर शिव को परम योगी एवं सृष्टि का अन्तिम सत्य मानता हुआ समस्त प्रकार के भूत का ईश्वर मानता हुआ वन्दनीय मानता है क्योंकि संपूर्ण संसार का उद्भव स्थिति एवं संहार केवल शिव ही चित्ति शक्ति का परिणाम है । अतः ऐसे में कहा जा सकता है ऐसे मे योगीश्वर शिव को गुरु रूप में यदि नाथ पंथ में प्रतिस्थापित किया गया है तो इस में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। वहीं दूसरी ओर यह भी ध्यान देने वाली बात है कि तिब्बती बौद्ध मत में बुद्ध की प्रज्ञा पारमिता को ले कर जिस तन्त्र का आविष्कार किया गया उस पर भारतीय तन्त्र एवं शाक्त साधना का व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा जिसे नाथ पंथ की गुह्य साधनाओं का आरंभ माना जा सकता है। आचार्य शंकर का इन्हीं संदर्भों में कहते है कि—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्च्यादिभिरपि ।
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥[1]

वह ईश्वर की स्वयं की ही शक्ति है जिसका चिन्तन मनन एवं ध्यान स्वयं शिव करते है। क्योंकि बिना शक्ति ईश्वर शिव शव के समान है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि नाथों का शिव निरा ऐकान्तिक नहीं है। ईश्वर का यह स्वरूप शक्ति एवं शक्तिमान् का समन्वित रूप है। इन्हीं संदर्भों में *योगसूत्र* एवं "*कुमार संभवम्*" का उद्धरण एक आवश्यकता बन जाती है। वस्तुतः नाथ परम्परा पर योगसूत्र का व्यापक प्रभाव पडा एवं जिस निरालम्ब समाधि को लेकर विवेकख्याति की बात पतञ्जलि मुनि करते है वह अतुलनीय है। नाथ सम्प्रदाय में यद्यपि सिद्धियों की चर्चा की गई है परन्तु हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि नाथ ईश्वरत्व प्राप्ति की अपेक्षा स्व-स्वरूपावस्थान पर अधिक बल देते हैं । ईश्वरत्व अथवा सिद्धि उनका किसी भी रूप में अभिप्रेत नहीं है बल्कि स्व में स्थित हो कर स्व को देखना ही नाथ साधना का प्रमुख उद्देश्य है जो शिव एवं शिवा रूपा हो कर मनुष्य देह में स्थित है। संभवतः इसी लिये वे द्वैताद्वैत के चक्कर में न पड़ कर वे उस शिव के उस योगी रूप की उपासना में लीन है। क्योंकि ईश्वर की अन्तर्निहित शक्ति की मातृका रूप में पूजा की गई अर्थात् शक्तिहीन शिव शव के समान है।

इन्ही संदर्भों में कालिदास द्वारा रचित *कुमारसंभवम्* के तृतीय सर्ग में शिव की समाधि का जो स्वरूप हमारे सामने आता है वास्तव में वह रूप योगियों, सिद्धों एवं नाथों का अभिप्रेत है। कालिदास शिव की समाधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब कामदेव ने शिव के प्रथम दर्शन किये तो " महादेव पर्यंकबन्ध आसन में शरीर को स्थिर किए बैठे थे। धड़ विशाल और सीधा था । दोनों कन्धे कुछ झुके हुए थे। कर-युगल मिलाकर उन्होंने गोद में रखे हुए थे, जो खिले हुए कमल के समान जान पड़ते थे। जटा समूह नागों से बंधा था । कानों पर दुहरी रुद्राक्ष माला झूल रही थी। कंठ की नीली कान्ति पड़ने से उनकी मृगछाला और भी काली दिखाई पड़ रही थी, जिसे उन्होंने कमर में गांठ लगाकर बांधा हुआ था। उनके नयन आधे खुले हुए थे। उनमें से विचित्र ज्योति फूट रही थी । वे अपलक नेत्र भौंहों के हिलाने पर कुछ हिलते थे । दृष्टि को वे नासाग्र पर स्थिर जमाए बैठे थे। वे प्राणायाम द्वारा आन्तरिक वायुओं को रोककर स्थिर बैठे हुए ऐसे दिखाई पड़ते थे, मानो कोई ऐसा जलधर हो, जो तुरन्त बरस पड़ने को आतुर नहीं है; या तरंगहीन पारावार हो या वातहीन स्थान में रखा हुआ कोई निष्कम्प प्रदीप हो । कपाल और नेत्रों के अन्दर से निकलते हुए जो प्रकाश के अंकुर उनके सिर के ऊपर दिखाई पड़ते थे, कमलनाल से भी अधिक सुकुमार एवं बाल शक्ति की कान्ति को लजानेवाले थे । देह के नव द्वारों की वृत्ति को रोककर मन को समाधि द्वारा वश में कर हृदय में स्थापित करके जिस अविनाशी को ब्रह्मज्ञानी लोग देखते हैं, वही महादेव अपने अन्दर स्वयं अपने आपको देख रहे थे।" वास्तव में नाथ पंथ के साधकों की समाधि का अभिप्रेत यही समाधि की अवस्था है जिसने नाथों की हठ साधना पर प्रभाव डाला । हमारे सामने एक और महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने एक

ओर जहाँ नाथ परम्परा की स्थापना की वहीं हमें यह भी पता चलता है कि वे बौद्ध मत में प्रचलित महायान के अनुगामी भी थे एवं उनका नाम 84 सिद्धों में गिना जाता है । किम्वदंतियों के अनुसार बौद्ध, कौलिकी साधना एवं नाथ सम्प्रदाय का इतिहास देखने से पता चलता है कि मत्स्येन्द्रनाथ अथवा मछन्दरनाथ नाथ परम्परा के प्रथम गुरु हुए हैं जिन्होंने आदिदेव शिव एवं देवी पार्वती के मध्य योगमूलक उपदेशों को सुना एवं आदिदेव महादेव की आज्ञा से वे स्वयं हठयोग प्रणेता एवं गुरु रूप में अवस्थित हुए। यद्यपि इन का समय निर्धारण स्वयं में इतिहासवेत्ताओं के लिये चुनौती है क्योंकि कुछ इनका काल निर्धारण ईसा की दूसरी शताब्दी मानते है तो वहीं दूसरी ओर कुछ चौथी शताब्दी मानते हैं। वहीं कई इनका काल निर्धारण ईसा की 10 वी शताब्दी मानते हैं। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि उनके विषय में में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है । इतिहास की पुस्तकों में उन्हें मीनानाथ (मत्स्य स्वामी) के रूप में कह कर बताया गया है और वे सिद्ध होने कारण लुई-पा से भी जुड़े हैं। किंवदंतियाँ उनके जन्मस्थान का वर्णन करने में भिन्न हैं। नेपाल में मच्छिंद्रनाथ रथ जात्रा के घर बुंगमती की प्राचीन नेवाड़ी कॉलोनी में मिले शिलालेखों के अनुसार, उनका मंदिर भारत में असम से लाया गया था। उनका उल्लेख *शाबरतन्त्र* में चौबीस कपालिका सिद्धों में से एक के रूप में भी हमें प्राप्त होता है।[2] और कभी-कभी उन्हें अवलोकितेश्वर के अवतार के रूप में माना जाता है। परन्तु ग्यूसेप टुकी के अनुसार हैं, दो तिब्बती कार्यों सिद्ध (वाइली ग्रब थोब) और तारानाथ की "पॉज़िंग द सेवन ट्रांसमिशन" (वाइली : बका' बेब्स बंदुन लदान) में मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर के अवतार के रूप में माना गया है। कई विचारक उन्हें तिब्बत अथवा कामरूप (वर्तमान आसाम) की कैबार्ता जाति का एक मछुआरा मानते हैं[3] परन्तु कई अन्य स्रोत उत्तर बंगाल को उनका जन्मस्थान मानते हैं।[4] जेम्स मॉलिंसन, एलेक्सिस सैंडरसन, डेविड गॉर्डन व्हाइट आदि का मानना है कि मरणोपरांत कई कार्यों का श्रेय उन्हें दिया गया।[5] वस्तुतः मत्स्येंद्रनाथ ने अपने जीवन काल कई बौद्ध और हिंदू परंपराओं का अनुसरण किया एवं इस बात के पुष्ट प्रमाण मिलते है। वे संत होने साथ साथ योगी भी थे एवं उन्हें पारंपरिक रूप से हठ योग के पुनरुत्थानवादी एवं सुधारवादी माना गया है एवं इन्हीं संदर्भों में उन्हें कुछ ग्रंथों के लेखक के रूप में माना जाता है जिससे शिव से प्राप्त शिक्षाओं का वर्णन मिलता है एवं इन्हीं ग्रंथों के आधार पर उन्होंने नाथ सम्प्रदाय की स्थापना भी की।[6] एक अवधारणा के अनुसार वे विशेष रूप से कौल शैववाद से जुड़े हैं।[7] मत्स्येंद्रनाथ को हठ और तांत्रिक रचनाओं का श्रेय दिया जाता है जिनमें *कौलज्ञाननिर्णय* ("कौल परंपरा से संबंधित ज्ञान की चर्चा")[8] और *"अकुला-वीरतन्त्र"*, संस्कृत में हठ योग पर कुछ शुरुआती ग्रन्थ हैं जिन्हें हम *हठयोग प्रदीपिका* आदि ग्रंथों का स्रोत मान सकते हैं। परन्तु यह निश्चित रूप से तथ्य सभी को स्वीकार्य है कि इनका संबन्ध महायान से रहा है एवं इन्होने ही तत्कालीन भारतीय धर्म साधना में हठयोग को प्रतिपादित किया। उनके सार्वभौम शिक्षण के लिए उन्हें "विश्वयोगी" भी कहा जाता है एवं वे हिन्दू और बौद्ध दोनों ही समुदायों में समान रूप से प्रतिष्ठित हैं।[9] मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ प्रथा के संस्थापक भी माना जाता है । मत्स्येन्द्रनाथ को सार्वभौम शिक्षण के लिए "विश्वयोगी" भी कहा जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मत्स्येंद्रनाथ के आमतौर पर आठ शिष्य माने जाते है जो कि वास्तव में विवाद का विषय हो सकता है।[10] "संभावनाएं विद्यमान हैं कि इनके कई अन्य शिष्य भी हों लेकिन सामान्य रूप से इस

सूची में गोरखनाथ, कनिपनाथ गहिनीनाथ, रेवन्नाथ, चर्पटीनाथ और नागनाथ आदि हैं। परन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में मत्स्येंद्रनाथ को मिला कर इन्हें नवनाथ कहा जाता है ।[11] यह बात प्रमुख है कि गोरक्षनाथ को मत्स्येंद्रनाथ का प्रत्यक्ष शिष्य माना जाता है। जिन्होंने इस सम्प्रदाय को विकसित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया एवं *पातञ्जल योगसूत्र* में व्यापक रूप से बदलाव किए। अत: गुरु गोरखनाथ हठयोग के आचार्य थे। कहा जाता है कि एक बार गोरखनाथ समाधि में लीन थे। इन्हें गहन समाधि में देखकर माँ पार्वती ने भगवान् शिव से उनके बारे में पूछा। शिवजी बोले, लोगों को योग शिक्षा देने के लिए ही उन्होंने गोरखनाथ के रूप में अवतार लिया है। इसलिए गोरखनाथ को शिव का अवतार भी माना जाता है। इन्हें चौरासी सिद्धों में प्रमुख माना जाता है। इनके उपदेशों में योग और शैव तंत्रों का सामंजस्य है। ये नाथ साहित्य के सुव्यवस्थित आरम्भकर्ता माने जाते हैं। गोरखनाथ की लिखी गद्य-पद्य की चालीस रचनाओं का परिचय प्राप्त है। इनकी रचनाओं तथा साधना में योग के अंग क्रिया-योग अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को अधिक महत्त्व दिया है। डॉ0 बड़थ्वाल की खोज में निम्नलिखित 40 पुस्तकों का पता चला था, जिन्हें गोरखनाथ-रचित बताया जाता है। डॉ0 बड़थ्वाल ने बहुत छानबीन के बाद इनमें प्रथम 14 ग्रंथों को निसंदिग्ध रूप से प्राचीन माना, क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः सभी प्रतियों में मिला । तेरहवीं पुस्तक ग्यान पैंतीसा समय पर न मिल सकने के कारण उनके द्वारा संपादित संग्रह में नहीं आ सकी, परंतु बाकी तेरह को गोरखनाथ की रचनाएँ समझकर उस संग्रह में उन्होंने प्रकाशित कर दिया है। पुस्तकें ये हैं—

1. सबदी 2 पद 3. शिष्यादर्शन 4. प्राण सांकली 5. नरवै बोध 6 आत्मबोध7. अभय मात्रा जोग 8 पंद्रह तिथि 9 सप्तवार 10 मंछिद्र गोरख बोध 11. रोमावली 12. ग्यान तिलक 13. ग्यान चैंतीसा 14 पंचमात्रा 15. गोरखगणेश गोष्ठ 16. गोरखदत्त गोष्ठी (ग्यान दीपबोध) 17. महादेव गोरखगुष्टिउ 18 शिष्ट पुराण 19. दया बोध 20. जाति भौंरावली (छंद गोरख) 21. नवग्रह 24 रह रास 25 ग्यान माला 26. आत्मबोध (2) 27. व्रत 28. निरंजन पुराण 29. गोरख वचन 30. इंद्र देवता 22. नवरात्र 23 अष्टपारछ्या 31. मूलगर्भावली 32. खाणीवाणी 33. गोरखसत 34. अष्टमुद्रा 35. चौबीस सिध 36 षडक्षर 37 पंच अग्नि 38 अष्ट चक्र 39 अक 40. काफिर बोध।

गोरखनाथ का मानना था कि सिद्धियों के पार जाकर शून्य समाधि में स्थित होना ही योगी का परम लक्ष्य होना चाहिए। शून्य समाधि अर्थात् समाधि से मुक्त हो जाना और उस परम शिव के समान स्वयं को स्थापित कर ब्रह्मलीन हो जाना, जहाँ पर परम शक्ति का अनुभव होता है। हठयोगी कुदरत को चुनौती देकर कुदरत के सारे नियमों से मुक्त हो जाता है और जो अदृश्य कुदरत है, उसे भी लाँघकर परम शुद्ध प्रकाश हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि नाथों का शून्यवाद बौद्धों के शून्यवाद से नितांत भिन्न है एवं जिस प्रकार से बौद्ध शून्यवाद को अन्तिम या चरम मानते है नाथ सम्प्रदाय ठीक इसके विपरीत ही है क्योकि स्व में स्थित हो कर आत्म दर्शन करना ही साथ सम्प्रदाय का मुख्य लक्ष्य है।

नाथ सम्प्रदाय का योगदान

नाथ सम्प्रदाय की मुख्य 12 शाखाएं है जिनके नाम इस प्रकार हैं- 1. भुज के कंठरनाथ, 2. पागलनाथ, 3. रावल, 4. पंख या पंक, 5. वन, 6. गोपाल या राम, 7. चांदनाथ कपिलानी, 8. हेठनाथ, 9. आई पंथ, 10. वेग पंथ, 11. जैपुर के पावनाथ और 12. घजनाथ ।

नाथ सम्प्रदाय में किसी भी प्रकार का भेद-भाव आदि काल से नहीं रहा है। इस सम्प्रदाय को किसी भी जाति, वर्ण व किसी भी उम्र में अपनाया जा सकता है। संन्यासी का अर्थ काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि बुराईयों का त्याग कर समस्त संसार से मोह छोड़ कर शिव भक्ति में समाधि लगाकर लीन होना बताया जाता है। प्राचीन काल में राजे-महाराजे भी अपना राजपाठ छोड़ संन्यास इसी लिए लिया करते थे ताकि वे अपना बचा हुआ जीवन सांसारिक परेशानियों को त्याग कर साधुओ की तरह साधारण जीवन बिताते थे। नाथ सम्प्रदाय को अपनाने के बाद 7 से 12 साल की कठोर तपस्या के बाद ही संन्यासी को दीक्षा दी जाती थी। विशेष परिस्तिथियों में गुरु अनुसार कभी भी दीक्षा दी जा सकती है । दीक्षा देने से पहले वा बाद में दीक्षा पाने वाले को उम्र भर कठोर नियमो का पालन करना होता है। वो कभी किसी राजा के दरबार में पद प्राप्त नहीं कर सकता, वो कभी किसी राज दरबार में या राज घराने में भोजन नहीं कर सकता परन्तु राज दरबार वा राजा से भिक्षा जरुर प्राप्त कर सकता है। उसे बिना सिले भगवा वस्त्र धारण करने होते है । हर साँस के साथ मन में आदेश शब्द का जाप करना होता है था किसी अन्य नाथ का अभिवादन भी आदेश शब्द से ही करना होता है । संन्यासी योग व जड़ी-बूटी से किसी का रोग ठीक कर सकता है पर एवज में वो रोगी या उसके परिवार से भिक्षा में सिर्फ अनाज या भगवा वस्त्र ही ले सकता है। वह रोग को ठीक करने की एवज में किसी भी प्रकार के आभूषण, मुद्रा आदि ना ले सकता है और न इनका संचय कर सकता। महाराष्ट्र में जो *नवनाथ भक्तिसार* ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जो गुरु मच्छेन्द्रनाथ द्वारा लिखित है. उस आधार पर ऐसा कहा जाता है कि नाथ सम्प्रदाय गुरु गोरक्षनाथ द्वारा निर्मित है।

गोरखनाथ द्वारा रचित दो पुस्तकें *"गोरक्ष शतकम्"* एवं *"गोरक्ष पद्धति"* हमें आज भी संस्कृत साहित्य में देखने को मिलती हैं जिनमें गुरु के कार्य की व्यापक व्याख्या मिलती है यद्यपि *हठयोग प्रदीपिका* भी इन्हीं संदभों में द्रष्टव्य है। परन्तु जहाँ तक गुरु गोरखनाथ का संदर्भ है हमें अपने आप को शरीर के भीतर विद्यमान चक्रों तक ही सीमित रखना चाहिये क्योंकि *विराट्पुराण* इन्हीं संदर्भों में द्रष्टव्य है। गुरु गोरखनाथ से पूर्व जहाँ षट्चक्र निरूपण की बात आती है वहीं गुरु गोरखनाथ के समय में चौदह चक्रों का वर्णन हमें देखने को मिलता है जिसमे आधार चक्र सर्वप्रथम आता है एवं इसके प्रमुख देवता गणेशनाथ है जिनकी दो शक्तियां सिद्धि एवं बुद्धि हैं। इसकी स्थिति मूलाधार चक्र के समान ही है। परतु द्वितीय चक्र महापद्म चक्र है जिसमें नीलनाथ अवस्थित है। तत्पश्चात स्वाधिष्ठान चक्र है जिसके आधार में ब्रह्मा एवं सावित्री अवस्थित है। इसके अनन्तर मणिपूरचक्र से पहले तीन शक्ति केन्द्र विद्यमान है जिनका नाम सुषुम्ना, गर्भ एवं कुण्डलिनी चक्र

विद्यमान है। तत्पश्चात् मणिपुर एवं लिंग चक्र हैं जिसके पश्चात् अनाहत चक्र है एवं यह चक्र मनस् तत्त्व की आधार भूमि है जिसके रुद्र देवता है एवं उमा शक्ति हैं। तत्पश्चात् विशुद्धि चक्र की स्थिति है जिसके जीव देवता हैं एवं आद्या शक्ति ही उनकी शक्ति है एवं इसके ऋषि का नाम विराट् है। तत्पश्चात् 32 पंखुडियों से युक्त प्राणचक्र विद्यमान है जिसके स्वामिन् प्राणनाथ एवं शक्ति प्राण हैं। इसके अतिरिक्त विशुद्धि चक्र के पश्चात् एवं आज्ञा चक्र से पहले चार और चक्र विद्यमान हैं जिसमें प्रथम 32 पंखुडियों वाला अवल चक्र विद्यमान है जो उदय होते सूर्य के समान प्रभा के समान है। यद्यपि इसका निश्चित स्थान बताया नहीं गया परन्तु जैसा वर्णित किया गया है यह स्थान ब्रह्मा विष्णु एवं रूद्र का संधि स्थल है एवं यह काल चक्र एवं योगिनी चक्र से जुड़ा है। एक अन्य चक्र चिवुका चक्र मनुष्य के चेहरे में चिब्बुक अर्थात् ढोडी क्षेत्र में कहीं स्थित है एवं इसके भी 32 दल हैं जिसके प्राण देवता एवं सरस्वती शक्ति हैं एवं सभी प्रकार के देव यहाँ निवास करते हैं एवं सभी प्रकार की वाणी का स्रोत है चाहे वह मध्यमा हो अथवा वैखरी । इसके ऋषि का नाम क्रोध है । नासारन्ध्र में बलवान नामक चक्र है जो मनुष्य शरीर में त्रिवेणी का स्थान है। यहीं पर गंगा, यमुना एवं सरस्वती का मिलन होता है जो कि इडा पिंगला एवं सुषुम्ना नाडी का संगम स्थल है एवं इसकी तीन पंखुडियां हैं। इसका देवता प्रणव है एवं इसकी शक्ति सुषुम्ना है। यह तीन वर्ण अ उ म नामक मात्रों को द्योतित करता है एवं इसका ऋषि महाहंकार है। आज्ञा चक्र मस्तक में स्थित दोनों भ्रू मध्य भाग में स्थित है एवं माणिक्यवर्ण प्रभा से युक्त है जिसकी दो पंखुडियां है एवं इसका हंस देवता है एवं सुषुम्ना शक्ति है। यह विज्ञान एवं अनुपमा वाक् के समकक्ष है एवंआधे प्रणव मन्त्र का पूर्व भाग है । कर्णमूल में कर्णमूल चक्र विद्यमान है जो 36 पंखुडियों से युक्त है एवं काले एवं पीले वर्ण से युक्त है। इसके देवता नाद एवं श्रुति इसकी शक्ति है एवं यह 35 मातृकाओं का स्थान है। तत्पश्चात इसके पश्चात् त्रिवेणी चक्र जिसके 26 पर्ण हैं परन्तु यह त्रिवेणी चन्द्र से संबंधित है परन्तु उसके पहले स्थित है। मस्तक में चन्द्र चक्र विद्यमान है जिसके रक्त एवं शुभ्र रंग के 32 पर्ण हैं। इसके देवता चन्द्र एवं अमृता शक्ति है एवं इसका मनस् नाम का ऋषि है। ऐसा माना जाता है कि सूर्य इसी स्थान से अपना अमृत ग्रहण करता है एवं यह चक्र अमृत चक्र से संबंधित है जो कि लगभग समान स्थान पर ही विद्यमान है एवं इस के देवता एवं शक्ति एक जैसे हैं एवं यह आत्म का निवास स्थान माना जाता है। इसी स्थान से अमृत का सदा ही क्षरण होता रहता है एवं यह गायत्री अथवा कामधेनु का स्थान है एवं इसके अम्बिका, लम्बिका घण्टिका एवं तालिका नामक चार स्तन हैं। यह मनुष्य मुख के समान है जिसके मदपूर्ण नेत्र, मयूर की पूंछ, हथी की सूंड एवं शेर जैसी बाजुऐं विद्यमान है जिसके गाय के समान सींग है एवं लीला ब्रह्म एवं हंस नामक दो पर्ण हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मद्वार चक्र विद्यमान है जिसके 100 पर्ण हैं। तत्पश्चात् कमल के आकार वाली अकुल कुण्डलिनी विद्यमान है जिसके 600 पर्ण विद्यमान हैं जिसे पार करने के पश्चात् योगी ब्रह्म रंध्र में प्रवेश करता है जो कि योग साधना का चरम है। इसी चक्र में गुरु एवं चैतन्य शक्ति निवसित हैं । यद्यपि इस के बाद छः अन्य चक्र माने गये है जिनके नाम ऊर्ध्व रंध्र, भ्रमरगुहा अकुण्ठपीठ, कोलहाट, वज्रदन एवं निराधार प्रमाण ज्योतिष्कार हैं। ऊर्ध्व ब्रह्म रंध्र को तालू चक्र कहा जाता

है और इसके 64 पर्ण विद्यमान हैं। ब्रह्मरंध्र को अलेख अथवा अलक्ष्य चक्र कहा जाता है। परन्तु उपर्युक्त सभी चक्रों के पर्ण समान हैं एवं इन सभी का अलकानाथ देवता एवं अलकेश्वरी इनकी शक्ति है एवं अलक इनके ऋषि हैं। कोल्हाल चक्र अथवा वैकुण्ठ अथवा कैलाश यही स्थान है एवं इन दोनों का देवता एवं शक्ति का नाम अनन्त है। वज्रदन चक्र की स्थिति इन्हीं संदर्भों में स्पष्ट नहीं है। अन्तिम चक्र का नाम निरालम्भ स्थान है जिसमें अनन्त पर्ण विद्यमान हैं एवं यह स्थान गुरुदेव का है। इनके पश्चात् रिक्त स्थान आता है जिसे पार कर के योगी आवागमन के सांसारिक बन्धन से मुक्त हो जाता है "स च योगी तिष्ठति युगे युगे ज्योतिः समेत्य" ।

यदि इस उपर्युक्त चक्र साधना को देखें तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह रूढ चक्र साधना से काफ़ी संदर्भों में भिन्न था एवं जिस प्रकार इन चक्रों का तन्त्र के साथ संबन्ध रहा है वह अपने में अपूर्व सिद्धांन्त रूप में हमारे सामने आती है। यद्यपि इसका विस्तार एक आवश्यकता हो सकता है परन्तु सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि अवधूत पद को प्राप्त करने के लिये यह चक्र साधना उस समय की एक आवश्यकता थी।

सन्दर्भ

1. *सौन्दर्यलहरी* 1
2. https://www.hmoob.in/wiki/Matsyendranath
3. https://www.hmoob.in/wiki/Matsyendranath and डेविड गॉर्डन व्हाइट द्वारा *दी अलकेमिकल बॉडी: सिद्ध ट्रेडिशन्स इन मिडीवल इंडिया* ", पृ. 91
4. सुहास चटर्जी (1998), *भारतीय सभ्यता और संस्कृति*, पृ. 441
5. लामा अनागारिका गोविंदा, मोरिस ओ कोनेल द्वारा *बौद्ध प्रतिबिंब*, आईएसबीएन 978-81-208-11690, पृ.119 / ए बी सी पाटन के रातो *मछेंद्रनाथ का जुलूस कब होता है?* (2007, 28 अक्टूबर) से लिया गया "संग्रहीत प्रति ।
6. फुएरस्टीन, जॉर्ज (2013-09-11) *योग परंपरा इसका इतिहास*, साहित्य, दर्शन और अभ्यास (जलाने के स्थान 12788-12789) । होम प्रेस किंडल संस्करण।
7. फुएरस्टीन, जॉर्ज (2013-09-11) *योग परंपरा इसका इतिहास*, साहित्य, दर्शन और अभ्यास (जलाने के स्थान 12803-12804)। होम प्रेस किंडल संस्करण।
8. नेपाल से ऑनलाइन नवीनतम समाचार और लेख पढ़ें। kathmandupost.ekantipur.com
9. *An Introduction to Hinduism* [हिन्दू धर्म का परिचय]; गेवलिन फ्लूड 1996; पृ° 98
10. जेम्स मॉलिंसन द्वारा ए बी *"शक्तिवाद और हठ योग* ", 6 मार्च 2012
11. फ्राइडमैन, मौरिस (1987) *"नवनाथ सम्प्रदाय* "दीक्षित में सुधाकर एस. (सं.). में वह हूँ: श्री निसर्गदत्त महाराज के साथ वार्ता। एकोर्न प्रेस आईएसबीएन 9780893860462

वीवी बी आई. एस., एण्ड आई. एस.
(पंजाब विश्वविद्यालय)
साधु आश्रम उना रोड
पो. होशियारपुर(पंजाब)
दूरभाष +91 9417188202

बाणभट्ट की अमरकृति *चण्डीशतकम्* का पाठालोचन

डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय

बाणभट्ट संस्कृत-साहित्य की गद्य-परम्परा में क्लिष्टतम भाषा-शैली के मूर्धन्य लेखक हैं तथा '*चण्डीशतकम्*' इनकी अद्वितीय काव्यकृति है। बाणभट्ट ने कथा—*कादम्बरी*, आख्यायिका—*हर्षचरित*, स्तुतिकाव्य—*चण्डीशतकम्*, *शिवशतक* अथवा *शिवस्तुति*, नाटक—*मुकुटताड़ितक शारदचन्द्रिका* तथा *पार्वती-परिणय* की रचना की है। *चण्डीशतकम्* संस्कृतकाव्य-शास्त्र की 102 गेय पद्यों की पार्वती की प्रशंसा में रचित कृति है। यह कृति संस्कृत-साहित्य की शतक, स्तोत्र, मुक्तक तथा गीतिकाव्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है। *चण्डीशतकम्* की मूलकथा महाभारत के नवम पर्व के 44, 45 एवं 46 अध्यायों में वर्णित है तथा मार्कण्डेय पुराण में यह प्रसंग अध्याय 78 से 90 (कुछ प्रतियों में अध्याय 81 से 93) तक वर्णित है। वामनपुराण के अध्याय 20 में भी महिषासुरवध का वर्णन है।

सूर्यशतक (मयूरशतक) के प्रणेता महाकविमयूर बाण की पत्नी के भाई थे। ऐसी किंवदन्ती है कि मयूर कवि एक दिन प्रातः काल जल्दी ही अपनी काव्य-रचना सुनाने के लिए बाण के घर चले गए, जहाँ बाण अपनी रूठी हुई प्रियतमा को मनाने के लिए प्रसंगवश अपने अंतिम प्रयास के रूप में रचित पद्य के प्रथम 03 चरण—

गता प्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव ।
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो

के चतुर्थ चरण की निर्मिति के क्रम में बार-बार दोहरा रहे थे, जिन्हें सुनकर मयूर कवि ने चतुर्थ चरण *कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि!कठिनम्* 'कहकर पूर्ण कर दिया। इस चतुर्थ चरण से 'चण्डि' शब्द उद्धृत कर बाण ने '*चण्डीशतकम्*' की रचना कर दी। पराभगवती पार्वती के द्वारा अपने वामपाद से महिषासुर के वध को प्रमाणित करता है यह पद्य—

स्रस्ताङ्गः सन्नचेष्टो भयहृतवचनः सन्नदोर्दण्डशाखः
स्थाणुर्दृष्ट्वा यमाजौ क्षणमिव सभयं स्थाणुरेवोपजातः।
तस्य ध्वंसात्सुरारेर्महिषितवपुषो लब्धमानावकाशः
पार्वत्या वामपादः शमयतु दुरितं दारुणं वः सदैव॥ 101॥

उत्तरवर्ती-विद्वानों की कृतियों में चण्डीशतक के उल्लेख—

(1) भोजदेव कृत *सरस्वती कण्ठाभरण* में *चण्डीशतकम्* के पद्य क्रमांक 40 एवं 66 उद्धृत किए गए हैं—

नीते निर्व्याजदीर्घामघवति मघवद्वज्रलज्जानिदाने
निद्रां द्रागेव देवद्विषि मुषितभियः संस्मरन्त्याः स्वभावम्।
देव्या दृग्भ्यस्तिसृभ्यस्त्रय इव गलिता राशय शोणितस्य
त्रायन्तां त्वां त्रिशूलक्षतकुहरभुवो लोहिताम्भः समुद्राः॥40॥

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताऽऽशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥66॥

(2) अर्जुनवर्म देव की अमरूक शतक पर टीका में *चण्डीशतकम्* का पद्य 37 उद्धृत किया गया है—

दृष्टावासक्तदृष्टिः प्रथममिव तथा सम्मुखीनाभिमुख्ये
स्मेरा हासप्रगल्भे प्रियवचसि कृतश्रोत्रपेयाधिकोक्तिः।
उद्युक्ता नर्म्मकर्म्मण्यवतु पशुपतेः पूर्ववत् पार्व्वती वः
कुर्वाणा सर्वमीषद्विनिहितचरणाऽलक्तकेव क्षतारिः॥37॥

(3) आचार्य मम्मट ने भी अपनी अमर कृति 'काव्य-प्रकाश' में *चण्डीशतकम्* का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों की ही देन है कि बाण के उत्तरवर्ती दीर्घकाल तक प्रकाशन नहीं हो पाने पर भी इसका अस्तित्त्व बना रहा।

चण्डीशतकम् पर लिखी गई टीकाओं का विवरण इस प्रकार है—

(1) आफ्रेट ने धनेश्वरकृता तथा अज्ञातकृता, इन दो टीकाओं का ही उल्लेख किया है। (2) कृष्णामाचारियार ने धनेश्वर, नागोजी भट्ट तथा भास्कर राय कृत टीकाओं को ही प्रामाणिक माना है। (3) पीटरसन ने भी उक्त तीन टीकाओं का ही उल्लेख किया है। (4) बुहलर को किसी जैन लेखक द्वारा लिखी गई पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जिसमें पद्य क्रमांक 44 तक संक्षिप्त पार्श्व टिप्पणी दी गई है। (5) महाराणा कुम्भकर्ण कृत वृत्ति तथा अन्य अज्ञातकृता टीका। (6) कपिलगिरि गोस्वामी द्वारा हिन्दी भाषा में लिखी गई 'विजया' नामक टीका।

चण्डीशतकम् तथा उसकी टीकाओं के प्रकाशन

(1) *चण्डीशतकम्* का प्रथम प्रकाशन सन् 1887 में काव्यमाला ग्रन्थ के चतुर्थ- गुच्छक में प्रथम स्तोत्र के रूप में हुआ है, जिसे पाण्डुरंग जावजी ने अपने निर्णयसागर- मुद्रण यन्त्रालय, मुंबई में मुद्रित कर

प्रकाशित किया। यह प्रकाशन धनेश्वर कृत तथा किसी अज्ञातकृता टीका पर आधारित है। काव्यमाला- ग्रन्थ के तृतीय संस्करण का प्रकाशन सन् 1937 में हुआ, जो आज नेट पर उपलब्ध है जहाँ से इसे मूल्य रहित डाउनलोड किया जा सकता है।

(2) कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशन—*चण्डीशतकम्* का यह प्रकाशन सन् 1917 में किया गया। यह प्रकाशन 'The Sanskrit Poems of Mayura' ग्रन्थ में वर्णित *'सूर्यशतकम्* (मयूर शतक)' से '*चण्डीशतकम्*' की तुलना किए जाने के क्रम में किया गया है। यह प्रकाशन आंग्लभाषा-लिपि में अनुवाद सहित 'The Sanskrit Poems of Mayura' ग्रन्थ में पृष्ठांक 245 से 357 तक किया गया है।

(3) प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर (राजस्थान) द्वारा प्रकाशन—इसका प्रकाशन वर्ष 1968 है। *चण्डीशतकम्* पर महाराणा कुम्भकर्ण कृत विवृत्ति के साथ किसी अज्ञातकृता टीका को जोड़कर किया गया है। इस प्रकाशन में ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर यह उल्लेख प्राप्त होता है—'मेदपाटेश्वर महाराणा कुम्भकर्ण प्रणीतया अज्ञातकर्तृ कृतया टीकया च संवलितम्।'

(4) चौखम्बा-ऑरियन्टालिया, वाराणसी द्वारा प्रकाशन—इसका प्रकाशन वर्ष सन् 1983 है। इस प्रकाशन को *चण्डीशतकम्* की 'विजया' हिन्दी टीका का नाम दिया गया है।

चण्डीशतकम् की उपलब्ध पाण्डुलिपियाँ

(1) प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान्, जोधपुर (राजस्थान) की जोधपुर शाखा में दो पाण्डुलिपियाँ क्रमांक 10239 तथा 17376 उपलब्ध हैं तथा तीसरी पाण्डुलिपि इसी प्रतिष्ठान की जयपुर शाखा में 'महाराजा पब्लिक लाइब्रेरी' से प्राप्त ग्रंथों में क्रमांक 09 पर उपलब्ध है।

(2) साँभर (राजस्थान) निवासी श्रीसच्चिदानन्द जोशी के परिवार में अवचूर्ण स्वरूप में *चण्डीशतकम्* की एक पाण्डुलिपि उपलब्ध है।

(3) जैन भवन कलकत्ता में प्रतिक्रमांक 1529 पर उपलब्ध पाण्डुलिपि में पत्र 49 (दीमक भक्षित नष्टप्रायः), प्रति पत्र पंक्ति 17, अक्षर 51, अन्तिम पत्र में पंक्ति 11, दूसरी तरफ है।

यहाँ यह उल्लेख भी समीचीन है कि साँभर (राजस्थान) में उपलब्ध अवचूर्ण प्रति में *चण्डीशतकम्* में उपलब्ध 102 पद्यों से भिन्न दो नवीन पद्य क्रमांक 102 एवं 103 पर उपलब्ध हैं—

नो चक्रे तीक्ष्णधारे निपतति न कृतः सन्नतो येन मूर्द्धा
दर्प्पाद्वक्रेपि विष्णोर्नवशरनिकरे पाशभर्तुर्न पाशे।
यस्यास्तस्यापि दूरं कमलमृदुपदान्यक्कृता(ो) दैत्यभर्तुः
शर्वाणी पातु सा वः सुररिपुमथने वन्द्यमाना सुरौघैः।।102।।

गन्धर्व्वैर्गीतिगर्भं सचकितमसुरैरृक्रग्भिराद्यैर्मुनीन्द्रै-
र्लोके सत्कारपूर्वं विविधगुणगणैश्चाटुकारैर्वचोभिः।
सानन्दं स्तूयमाना शिरसि हिमरता चुम्बिता मेनया व-
-स्स्थाण्वङ्गं भूय इच्छुः सुखयतु भवतः सा भवानी हतारिः (103)

चण्डीशतकम् की टीकाओं की तुलना का आधार निम्न प्रकाशन है—

(1) काव्यमाला ग्रन्थ में प्रकाशित- *चण्डीशतकम्* में पाद-टिप्पणी में पाठभेद दिए गए है।

(2) प्राच्य-विद्या-प्रकाशन, जोधपुर (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित प्रति में भी पाठभेद दिए गए हैं। इस प्रति में काव्यमाला-ग्रन्थ से उद्धृत, कुम्भकर्णकृत वृत्ति तथा अज्ञातकृता टीका से उद्धृत पाठभेद पाद टिपणी में उपलब्ध हैं।

(3) कपिलगिरी गोस्वामी कृत हिन्दी भाषा में 'विजया' नामक टीका एक मात्र प्रकाशन है, जिसमें किसी दूसरी टीका का कोई समावेश नहीं है। इस विजया टीका से भिन्न किसी अन्य मूल टीका का कोई प्रकाशन उपलब्ध नहीं हो पाने के कारण बाणभट्ट, कृत-चण्डीशतकम् की टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन किए जाने के क्रम में इन सभी प्रकाशनों में उपलब्ध पाठभेदों के संकलन को पुरातन टीकाओं के आधार स्वरूप स्वीकार किया जाना वांछित है।

अतः प्रस्तुत शोधकार्य में इन पाठभेदों को ही तुलना का मूल आधार स्वीकार किया गया है।

***चण्डीशतकम्* के पद्यों में पाठ भेदों का प्रस्तावित स्वरूप-**

मृत्योस्तुल्यं त्रिलोकीं ग्रसितुमतिरसा(न्) निःसृताः किं नु जिह्वाः
किं वा कृष्णाङ्घ्रिपद्मद्युतिभिररुणिता विष्णुपद्याः पदव्यः।
प्राप्ताः सन्ध्याः स्मरारेः स्वयमुतनुतिभिस्तिस्र इत्यूह्यमाना
देवैर्देवीत्रिशूलक्षतमहिषजुषो रक्तधारा जयन्ति॥04॥

पाठभेद

मृत्योस्तुल्यम् - याम्यास्तुल्यम् - मृत्योस्तूर्यम्
देवीत्रिशूलाहत - देव्यास्त्रिशूलक्षत
क्षतमहिषजुषो - हतमहिषजुषो

प्रालेयोपीडदीव्नां नखरजनिकृतमातपेनातिपाण्डुः
पार्वत्याः पातु युष्मान् पितुरिव तुलिताद्रीन्द्रसारः स पादः।
योऽधैर्यान्मुक्तलीलासमुचितपतनापातपीतासुरासी-
-न्नोदेव्याः एव वामच्छलमहिशतनोर्नाकलोकद्विषोऽपि॥10॥

प्रालेयोपीडपीव्नां – प्रालेयोत्पीडदीप्तां – प्रालेयोत्पीडदीव्यत्

प्रालेयोपीडदीव्नां – प्रालेयोत्पीडपीव्नां – प्रालेयोत्पीडदीप्तां

प्रालेयोत्पीडदीव्यन् – प्रालेयोत्पीडपीन्नां

योऽधैर्यान्मुक्तलीला – यो धैर्यामुक्तलीला – यो धैर्यान्मुक्तलीला

चण्डीशतकम् के काव्यमाला प्रकाशन में 78 पद्यों में कुल 188 पाठ भेद पाए गये हैं। *चण्डीशतकम्* की महाराणा कुम्भकर्ण कृत वृत्ति में काव्यमाला से उद्धृत 69 पद्यों में कुल 247 पाठभेद पाए गए हैं। *चण्डीशतकम्* की विजया टीका में 39 पद्यों में 53 पाठभेद पाए गए हैं। इन तीनों टीकाओं के कुल 416 भेदों का समेकित विवरण इस प्रकार है—

चण्डीशतकम् में उपलब्ध सम्पूर्ण पाठभेदों का समेकन

क्र0सं0	पाठ भेद		पद्य क्रमांक	योग पद्य
01	नहीं पाए गए		13, 19, 29, 36, 55, 60, 66, 67, 99	09
02	पाए गए		क्र0 सं0 01 में उल्लिखित पद्यों के अतिरिक्त सभी पद्य	93
03	01 पाठ भेद	11	02, 03, 05, 12, 17, 20, 53, 68, 70, 71, 75	11
04	02 पाठ भेद	22	01, 06, 26, 27, 31, 34, 35, 45, 58, 73, 81, 83	12
05	03 पाठ भेद	66	04, 07, 08, 15, 16, 18, 25, 32, 41, 44, 47, 48, 50, 57, 61, 62, 65, 74, 89, 94, 96, 102	22
06	04 पाठ भेद	32	09, 28, 37, 42, 43, 46, 59, 63	08
07	05 पाठ भेद	45	11, 14, 23, 24, 30, 33, 38, 85, 100	09
08	06 पाठ भेद	54	22, 49, 51, 52, 69, 76, 77, 93, 98	09
09	07 पाठ भेद	35	54, 56, 80, 84, 91	05
10	08 पाठ भेद	72	10, 21, 39, 40, 64, 86, 88, 92, 97	09
11	09 पाठ भेद	18	72, 90	02
12	10 पाठभेद	10	78	01
13	11 पाठभेद	22	79, 87	02
14	12 पाठभेद	36	82, 95, 101	03
	425	425	–सर्वयोग–	
	पाठयोग			93 पद्य

चण्डीशतकम् का काव्यशास्त्रीय-स्वरूप

चण्डीशतकम् के काव्यशास्त्रीय-स्वरूप भाषा, शैली, रस, छन्द, अलंकारादि के सन्दर्भ में निम्न तथ्य (जिनके समक्ष कोष्ठक में उदाहरण हेतु पद्यांकों का उल्लेख किया गया है) उल्लेखनीय हैं—

(1) भाषा - समास बहुल (01), चित्रात्मक (07), सुबोध भावगम्य (04), आनुप्रासिक (26), नाद सौंदर्य युक्त (13), श्लेषमयी (21), संवादात्मक (23), क्लिष्ट (14), द्वयर्थक (08) तथा गीतात्मक (06).

(2) शैली- चूर्णक (09), उत्कालिका (17), संवादात्मक (24), आविद्ध (6), सम्बोधन (15), सरल समास रहित (23) तथा मनोहारी (68).

(3) रस- शृङ्गार (12,16,72), हास्य (11, 14, 15, 23, 32, 69, 91), रौद्र (02), करुण (अनुपलब्ध), वीर (07), बीभत्स (53,84), भयानक (54, 57), अद्‌भुत (2,10,52,57) तथा शान्त (04)

(4) रीति- सूर्यशतकम् के समान ही *चण्डीशतकम्* में भी गौड़ी रीति अपनाई गई है।

(5) गुण- ओज गुण 52 पद्यों((01, 02, 04, 07से 18, 20, 22से25, 27, 30, 34से 36,38,39, 43, 44, 46, 48, 50 से 53, 55 से 57, 59, 69 से 74, 77 से 79,84,89,95, 99, 101 तथा 102) में अवलोकनीय है। प्रसाद गुण 26 पद्यों (03, 19, 21, 26, 29, 31 से 33, 40, 42, 45,47, 49,64,66,68, 81, 83, 86, 91, 92, 94,96, 97, 98 तथा 100) में द्रष्टव्य है। माधुर्यगुण 24 पद्यों (05, 06, 28, 37, 41, 54, 58, 60 से 63, 65,67, 71, 72, 75, 76, 80, 82, 85, 87, 88, 90 तथा 93) में पाया गया है।

(6) छन्द- चण्डी शतकम् के 102 पद्यों में से मात्र 06 पद्य (25,32,49,55,56,72) शार्दूलविक्रीडित छन्द में हैं, शेष 96 पद्य स्रग्धरा छंद में वर्णित हैं।

(7) अलंकार- चंडीशतकम् में उपमा, रूपक भ्रान्तिमान्, काव्यलिंग, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, श्लेष, स्वभावोक्ति अपह्नुति, विशेषोक्ति विरोधाभास, यमक, सन्देह, अतिशयोक्ति आदि 35 प्रकार के, अलंकारों का प्रयोग किया गया है। इनमें उपमा रूपक तथा भ्रांतिमान अलंकारों का प्रयोग अधिक है।

उदाहरणार्थ पद्यांक 01 में दैत्य की तुलना पैर में नहीं गढ़ने वाले तिनके से, पद्यांक10 में नाखून की तुलना चन्द्रमा से तथा पद्यांक 41 में देवी के तीन रूपों की महादेव के तीन नयनों से तुलना में उपमा अलंकार है। पद्यांक 09 में चण्डी के नख को लोकपाल (रक्षक) रूपी बताए जाने में , पद्यांक 56 में महिषासुर पर काँटे का आरोप किए जाने में,पद्यांक92 में रुद्राणी के चरण पर कमल का आरोप किए जाने में रूपक अलंकार द्रष्टव्य है। पद्यांक 02 में महिषासुर के कृष्णवर्ण में विन्ध्याचल का भ्रम होने से, पद्यांक 16 में

त्रिशूल की मार से ऊपर उछलकर बहने वाली महिष दैत्य के रक्त की धारा में संध्या की लालिमा की भ्रांति होने से भ्रान्तिमान अलंकार है।

उदाहरण-स्वरूप पद्य का विवेचित स्वरूप—

मृत्योस्तुल्यं त्रिलोकीं ग्रसितुमतिरसा निःसृताः किं नु जिह्वाः
किं वा कृष्णाङ्घ्रिपद्मद्युतिभिररुणिता विष्णुपद्याः पदव्यः।
प्राप्ताः सन्ध्याः स्मरारेः स्वयमुत नुतिभिस्तिस्र इत्यूह्यमाना
देवैर्देवीत्रिशूलक्षतमहिषजुषो रक्तधारा जयन्ति॥04॥

रीति- गौडी रीतिगुण - ओजगुण, भाषा - सुबोधभावगम्यशैली- मनोहारी, रस-शान्तछन्द-स्रग्धरा, अलंकार-सन्देह अलंकार।

चण्डीशतकम् अपने सीमित प्रकाशनों, अल्प संख्या में उपलब्ध पाण्डुलिपियों, टीकाओं की न्यून संख्या, बीसवीं शती पूर्व की किसी भी टीका के अपने मूल-स्वरूप में प्रकाशित नहीं होने तथा प्रस्तुत शोधकार्य से पूर्व इस पर अन्य कोई शोध कार्य नहीं हो पाने के कारण विद्वानों की पहुँच से यह अद्यावधि तक काफी दूर बना रहा है। अतः जिज्ञासु विद्ववद्गण को प्रेरित करने हेतु यह शोधात्मक विवरण प्रस्तुत है। विस्तृत विवेचन जानने पीएच.डी. का शोधग्रन्थ अवलोकनीय है।

तारे सैकेण्डरी स्कूल के सामने
रंगपुर रोड नं. 2
पो. कोटा जंक्शन (राजस्थान)
पिन-324002
दूरभाष : 9414177882

शिवगीता का समीक्षात्मक अध्ययन

प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

पौराणिक साहित्य में भगवान् शिव से साक्षात् प्रोक्त 9 गीताएँ उपलब्ध हैं—1.शिवोत्तर गीता (हरिवंश), 2. शिवगीता (पद्मपुराण), 3. ईश्वरगीता (कूर्मपुराण), 4-6. रुद्रगीता (भागवत, वराह, ब्रह्मसंहिता), 7. ब्रह्मगीता (सूतसंहिता), 8. शंकरगीता (विष्णुधर्मोत्तर) तथा 9. शम्भुगीता। इनमें अधिक प्रसिद्ध *पद्मपुराण* के उत्तरखण्ड में अष्टादश अध्यायात्मिका शिवगीता है जिसमें कुल 865 श्लोक हैं तथा इसकी अनेक टीकाएँ भी है। मोक्षरूपी परम पुरुषार्थ प्राप्ति गीताओं का प्रधान लक्ष्य है। मोक्ष वस्तुत: तत्त्वज्ञान है जिसे हम तीन साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। कर्म, उपासना तथा ज्ञान की त्रिपुटी इसे प्राप्त कर पाती है। सत्कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि, उपासना से चित्त की एकाग्रता तथा ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। क्रमानुसार इन तीनों का अनुष्ठान करने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है। जो गीताओं के अध्ययन से प्राप्त होता है। *शिवगीता* एक अद्‌भुत ग्रन्थ जिसे जानने से प्राणि को योग, आत्मज्ञान, शरीर की गति, कर्म, उपासना, तत्त्वज्ञान आदि विषय सरलता से समझ में आ जाते हैं। शीघ्र ही परमानन्द अधिगत होता है। इसमें शिवजी ने दण्डक वन में रामचन्द्र को ब्रह्मज्ञान का युक्तिपूर्वक उपदेश तथा पाशुपतास्त्र दिया है। शिवजी के परमदिव्य उपदेश कैवल्य भक्ति रूप को प्राप्त कर श्रीराम ने परमश्रद्धा के कारण जानकी-जनित वियोग के कष्ट को समाप्त किया है। संसार में आत्मज्ञान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। शिव भक्तों के लिए यह गीता कामधेनु है।

प्रथम अध्याय में शिवभक्ति की उत्कृष्टता सिद्ध की गई है। आशुतोष शिव सरल पूजा, जप, ध्यान आदि से प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करते हैं। द्वितीय अध्याय में वैराग्य का उपदेश दिया गया है। जिस समय श्रीराम, अनुज लक्ष्मण और भार्या जानकीजी के साथ दण्डकारण्य में वास करते थे, उसी समय एक दिन जानकीजी का रावण ने हरण कर लिया, तब नर-नाट्य करते हुए श्रीराम ने वियोग के कारण बहुत विलाप किया। श्रीरामचन्द्र के विषाद को जानकर मुनि अगस्त्य श्रीरामजी के पास आए और उनसे संसार की निःसारता का विवेचन किया। उन्होंने कहा कि शिवजी की माया अत्यन्त दुर्गम्य है, जिसने सम्पूर्ण जगत् को मोहित किया हुआ है। उस माया को प्रकृति और महेश्वर को मायाधीश्वर जानिए (2.26)। इसके बाद मुनि अगस्त्य ने श्रीराम से तत्त्वज्ञान की अनेक बातें कहीं। तब श्रीराम ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ! मैं क्षत्रिय हूँ। मेरी भार्या का रावण ने हरण कर लिया है। यदि मैं उसका वध नहीं करूंगा, तो मेरे जीवित रहने से क्या लाभ है?(3.9) आपके तत्त्वज्ञान में मेरी तनिक भी रुचि नहीं है। आप तो मुझे वह उपाय बता दीजिए, जिससे मैं रावण का वध कर सकूं। इस पर अगस्त्यजी ने कहा—हे दशरथनन्दन! यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो पार्वतीजी के पति शिवजी की शरण ग्रहण करो। वे प्रसन्न होकर

तुम्हें मन वाञ्छित वर देंगे। (3.3) अब मैं तुम्हें विरजामार्ग की दीक्षा देता हूँ, जिससे तुम तेजोमय हो जाओगे। (3.15)। विधिपूर्वक विरजामार्ग की घोर साधना के पश्चात् एक दिन श्रीराघव ने देव, गन्धर्व, यक्ष, नाग, गण, पार्वती सहित महादेवजी के साक्षात् दर्शन किए। उसी समय एक अद्भुत दिव्यरथ प्रकट हो गया, जिसे देखकर वृषभ से उतर कर शिवजी पार्वती सहित उस रथ में प्रतिष्ठित हुए। तभी शिवजी ने प्रणाम करते हुए श्रीराम को प्रसन्न मन से दिव्य रथ में बिठा लिया।

इसके बाद भगवान् शिव ने अपने दिव्य कमण्डलु के जल से आचमन करके श्रीराम को आचमन कराके अपनी गोद में बिठा लिया। तदनन्तर उन्होंने श्रीराम को दिव्य धनुष, अक्षय तरकस तथा 'महापाशुपत अस्त्र' प्रदान किए। इसके बाद उन्होंने सभी देवताओं और लोकपालों से अपने-अपने अस्त्र प्रदान करने की आज्ञा दी।

श्रीरामचन्द्र द्वारा रावण के वध के सम्बन्ध में शङ्का करने पर महादेवजी ने कहा—हे राम! वे मूढ़ अहङ्कारी सभी राक्षस मेरे मुख में प्रविष्ट हो चुके हैं। तुम केवल निमित्त मात्र होकर युद्ध में कीर्ति प्राप्त करोगे। (5.38)

श्रीरामजी द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर शिवजी ने तात्त्विक विभूतिमय विश्वात्मक आत्मस्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा—ज्योति, अन्धकार, तन्मात्राएं, इन्द्रियाँ, उनके गुण, बुद्धि, अहङ्कार, शब्दादि विषय मैं ही हूँ। (6.21) सभी देवता, लोकपाल, काल, दिशाएं, आदि सभी कुछ मैं ही हूँ। इस प्रकार जो मुझे तत्त्व से जानता है, वही संसार से मुक्त हो जाता है। (6.57) इसके आगे भगवान् शिव श्रीराम को दिव्य चक्षु प्रदान कर अपने विश्वरूप का दर्शन कराते हैं। कोटि विद्युत्प्रभा के समान देदीप्यमान अत्यन्त भयंकर उस विराट् रूप को देखकर श्रीराम जङ्घाओं के बल, पृथ्वी पर बैठ गए। फिर उठकर जब उन्होंने देखा तो शिवजी के मुख में कोटि ब्रह्माण्ड सुमेरू आदि विशाल पर्वतमालाएं, समस्त चराचर जगत् दिखाई पड़ते हैं। श्रीराम को यद्यपि तत्त्वज्ञान हो गया था, फिर भी वे भयभीत होकर बार-बार प्रणाम करने लगे। (7.20) फिर उन्होंने शिवजी की बहुविध स्तुति की—हे विश्वेश्वर! हे शरणागत दुःखनाशक! हे चंद्रशेखर! प्रसन्न हो जाइए और संसार के भय से मुझ अनाथ की रक्षा कीजिए। (7.22) जिस प्रकार रस्सी में सर्प की भ्रान्ति भयदायक होती है, यद्यपि उसकी सत्ता मिथ्या है, इसी प्रकार आपकी माया से उत्पन्न यह जगत् मिथ्या भ्रान्ति के कारण सत्य प्रतीत होता है। (7.28) इस प्रकार बार-बार प्रणाम और स्तुति करते हुए विस्मित श्रीराम ने शिवजी से कहा—हे विश्वात्मन्! अपने इस विश्वरूप का उपसंहार कर लीजिए। हे शंकर! मैंने आपके अनुग्रह से आपमें स्थित संपूर्ण जगत् देख लिया है। (7.39)

तभी भगवान शिव ने अपने विश्वरूप को छिपा लिया। श्रीराम ने देखा कि पर्वत शिखर पर व्याघ्र-चर्म पर भगवान् नीलकंठ विराजमान हैं। इसके आगे श्रीराम की जिज्ञासा के अनुरूप शिवजी पाँचभौतिक देह की उत्पत्ति, स्थिति और नाश, तथा उसके स्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हैं। पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों से बनी देह के जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—चार भेद हैं। माता के गर्भ में अनेक कष्टों के पश्चात् प्राणी का जन्म होता है। युवा अवस्था में काम ज्वर से पीड़ित वह कभी कुछ गाता है, कभी अपना पराक्रम बखानता है।

युवावस्था के दुःख भोगने के उपरान्त वृद्ध होकर वह महादुःखी होता है। फिर एक दिन बन्धु-बान्धवों से घिरे प्राणी को मृत्यु ले जाती है। उस समय वह दारुण विलाप करता है। (8.55)

आगे शिवजी अपनी त्रिगुणात्मिका माया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मैं ही अनादि सिद्धि माया से युक्त होकर जगत् का कारण हूँ। यह संसार मुझसे उत्पन्न होता है और मेरे ही द्वारा धारण किया जाता है। मुझसे ही माया के द्वारा आकाशदि की उत्पत्ति होती है।

शिवजी ने सम्पूर्ण देह के स्वरूप, उसकी रचना, संरचना, उसके विभिन्न अंगों आदि का विस्तार से निरूपण किया है। शरीर में पाँच प्रकार की 360 अस्थियाँ होती हैं। उनकी 210 सन्धियाँ हैं। शरीर पर समस्त रोमों की संख्या तीन करोड़ है। दाढ़ी के बाल तीन लाख हैं। (9.49)

देहस्वरूप निरूपण के पश्चात् श्रीराम की जिज्ञासा के अनुरूप शिवजी जीव की देह में स्थिति के विषय में बताते हैं। वे यह भी बताते हैं कि जीव कहाँ से उत्पन्न होता है और इसका स्वरूप क्या है। शिवजी कहते हैं—अनेक प्रकार की अविद्या से युक्त होकर जीव रूप से मैं ही निवास करता हूँ। पाँच कर्मेंद्रियां, पाँच ज्ञानेंद्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, पाँच प्राण—ये सब मिलकर लिङ्ग शरीर की रचना करते हैं। उसी लिङ्ग शरीर में अविद्यायुक्त चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी को व्यवहार में क्षेत्र जीव और पुरुष कहते हैं। वही जीव अनादिकाल से पुण्य-पाप से निर्मित चराचर देहों में रहकर शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है। उसी की परलोक गति होती है और वही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का भोक्ता है। (10.15-18) जीव के स्वरूप का प्रमाण कहना सम्भव नहीं है, तथापि उसकी सूक्ष्मता इस तरह जाननी चाहिए—केश के अग्र भाग का सौवां भाग कर फिर उसका भी सौवां भाग करके जो प्रमाण किया जाए, वही जीव की सूक्ष्मता है। (10.26) हृदय स्थान से निकलकर सहस्रों नाड़ियां पूरे शरीर में फैली हुई है। योगियों ने इनकी संख्या 72 सहस्र कही है। उनमें मुख्य नाड़ियां एक सौ एक हैं। ज्ञान द्वारा जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाने और लिङ्ग शरीर का नाश हो जाने पर केवल आत्मा के अनुभव करने को ही मुक्ति कहा जाता है। (10.38)

इसके आगे शिवजी जीव की देहांतर गति और परलोकगति का विस्तार से वर्णन करते हैं।

जरा अवस्था आने पर शरीर के शिथिल होने से लिङ्ग शरीर का स्थूल देह से वियोग हो जाता है। पापी जनों को यमदूत ले जाकर नरक में यातना भोग के लिए छोड़ देते हैं। पुण्य कर्म करने वाले पितृलोक को प्राप्त होते हैं। पितृलोक से आगे वे चन्द्रलोक को दिव्यदेह से प्राप्त करते हैं। जब पुण्य फल समाप्त हो जाता है तो जीव इस लोक में फिर आता है। शम-दम आदि साधन सम्पन्न व्यक्ति देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक तक गमन करते हैं।

आत्मज्ञान का वैशिष्ट्य बताते हुए शिवजी कहते हैं कि ज्ञान जैसा आनन्द तो देवलोक में भी नहीं है। आत्मज्ञान के बराबर अन्य कोई आनन्द नहीं है, अतः दशरथ कुमार! आत्म ज्ञान का अनुष्ठान करना उचित है।

श्रीराम के प्रश्न करने पर शिवजी उपासना के सम्बन्ध में बताते हुए कहते हैं कि जितने भी देवता हैं, वे मेरे ही रूप हैं। जो पुरुष विष्णु, शिव, गणेशादि जिस भाव से मेरी उपासना करते हैं, उसी भावना के अनुसार उसी देवता के रूप में मैं उन्हें वांछित फल देता हूँ। यदि दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए। (12.8)

वेद, शास्त्र-वचनों से मेरी प्राप्ति सम्भव नहीं है। जो एकाग्र चित्त से मेरा ध्यान करता है, मैं उसे प्राप्त होता हूँ और फिर मैं उसको त्याग नहीं करता। (12.32)

उपासना की विधि, उसका स्वरूप उसके भेद आदि का विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् शिवजी श्रीराम को मुक्ति के सम्बन्ध में विस्तार से बताते हैं। शिवजी कहते हैं—हे राम! मुक्ति के पाँच भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्ट्य और कैवल्य। अविद्या के नाश और ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताते हुए शिवजी कहते हैं—ब्रह्मलोक तक प्राप्त दिव्य देह को भी अनित्य समझकर पत्नी, मित्र, पुत्रादि, सभी को नाशवान् जानकर इनसे चित्त की वृत्ति को पृथक् कर लेना चाहिए। जिसको किसी प्रकार का मोह, अहंकार आसक्ति नहीं है, जो सभी प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सभी प्राणियों का आत्मदर्शन करता है, वही आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त कहा जाता है। (13.29)

मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते हुए शिवजी कहते हैं—मोक्ष का कोई लोक नहीं है। मुक्त प्राणी किसी ग्राम या क्षेत्र का निवासी नहीं होता। अज्ञान ग्रन्थि के नाश को ही मोक्ष कहा गया है। (13.32) हे राम! सब कुछ त्यागकर तुम मेरी भक्ति करो! मैं तुम्हें सभी पापों से छुड़ाकर मुक्त कर दूँगा। (15.40) इसके आगे शिवजी परम मन्त्र ॐकार का विशेष माहात्म्य बताते हैं। ब्रह्म के साक्षात्स्वरूप ॐकार में सभी लोक निवास करते हैं। ॐकार का जपने वाला निःसंदेह मुक्त हो जाता है। (16.24) इस प्रकार भगवान् शिव श्री राघवेद्र को आत्मज्ञान का उपदेश करके वहीं अन्तर्धान हो गए। इस तात्त्विक आत्मज्ञान की प्राप्ति से श्रीरामचन्द्र ने अपने को कृतार्थ माना।

भक्ति के वैशिष्ट्य का वर्णन करते हुए शिवजी ने कहा है—तप, ज्ञान, दान, यज्ञ आदि से पुरुष मुझे उतनी सरलता से नहीं जान सकते, जिस प्रकार अनन्य भक्ति से। (17.26) इस प्रकार शिवगीता का बहुमूल्य उपदेश सम्पन्न होता है। जिसमें उपासना के तत्त्वों का स्पष्टीकरण विशेष उल्लेखनीय है।

वरिष्ठ शोध अध्येता
(भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्)
55, गोविन्द नगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
दूरभाष-913970601

अवधूतगीता का प्रतिपाद्य

डॉ. समीर कुमार

यह गीता *दत्तात्रेय संहिता* से उद्धृत है। *अवधूतगीता* के आठ अध्यायों में कुल 288 श्लोक हैं जिनमें आनन्दमूर्ति, योगिराज भगवान् दत्तात्रेय ने अद्वैत चिन्तन अर्थात् जीव और ब्रह्म की अभिन्नता का निरूपण किया है। अवधूत नाम की एक अन्य गीता भागवत पुराण के 11वें स्कन्ध के अध्याय 7 से 9 में है। इन तीन अध्यायों में 151 श्लोक हैं। इसमें दत्तात्रेय ने अपने चौबीस गुरुओं का वर्णन किया है। दत्तात्रेय संहिताकी अवधूत गीता में उनका सिद्धान्त है—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक आत्मा ही सत्य है। वेदान्त का यह सार तत्त्व अद्वैत चिन्तन ही है। यही हमारा भी सर्वस्व और ज्ञान-विज्ञान है। मैं ही व्यापक रूप आत्मा हूँ, निराकार भी हूँ और स्वभाव से सर्वव्यापी भी हूँ। (1.5) वास्तव में अभेद में भेदबुद्धि का नाम ही अज्ञान है। चित्त को संबोधित करते हुए दत्तात्रेयजी कहते हैं—हे चित्त! तू संतप्त होकर रुदन क्यों करता है। वास्तव में तू आत्मस्वरूप है। आत्मज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की अनुभूति कर ले। फिर शिष्य को समझाकर योगिराजजी कहते हैं कि अद्वैत रूपी अमृत का पान करके आनन्द प्राप्त करो। (1.55)

आत्मज्ञानी जिस किसी भाव से जहां कहीं भी अपने प्राण त्याग देता है, वह उसी समय पूर्ण ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है। (1.68)

दत्तात्रेयजी आगे कहते हैं—कि ज्ञान की बातें जिस किसी गुरु से प्राप्त क्यों न हों, उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए। गुरु चाहे बालक हो, विषयभोगों में प्रीति रखता हो, मूर्ख हो, गृहस्थ हो, लेकिन फिर भी उनसे ज्ञान प्राप्त करने में लाभ ही है, क्योंकि अपवित्र स्थान पर पड़े हुए रत्न को भी क्या कोई त्याग देता है? (2.1)

विश्व, प्रकृति और ब्रह्म के स्वरूप का नारियल फल की समानता से वर्णन करते हुए दत्तात्रेयजी कहते हैं—बाह्य दृश्यमान स्थूल भाव पदार्थ को विश्व कहते हैं। इसके अन्दर कारण स्वरूप प्रकृति है। उस सूक्ष्म प्रकृति के भीतर और उससे भी सूक्ष्म चेतन व्यापक ब्रह्म है। इसे नारियल फल के रूप में समझना चाहिए। नारियल का ऊपरी भाग कठोर होता है, उसके भीतर भी गिरी ऊपर की अपेक्षा सूक्ष्म होती है और उस गिरी में भी सूक्ष्म जल रहता है—

बाह्यभावं भवेद् विश्वमन्तः प्रकृतिरुच्यते।
अन्तरादन्तरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत्।। — *अवधूतगीता, 2.19*

परम पद प्राप्त करने वाले आत्मज्ञानी का लक्ष्य बताते हुए दत्तात्रेयजी आगे कहते हैं—जो ज्ञानवान् राग-द्वेषादि से रहित है, जो सभी प्राणियों के हित की ही कामना करता है, जिसे आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान है और धैर्यशील है, वही परम पद को प्राप्त कर लेता है। (2.24) जिस प्रकार घट का नाश हो जाने पर घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार शरीर का नाश हो जाने पर जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी परमात्मा के स्वरूप में लीन हो जाता है। (2.25)

परमधाम स्वरूप परमेश्वर का रूपसंकेत करते हुए दत्तात्रेयजी विस्तार से वर्णन करते हुए कहते हैं—जिस शाश्वत परमेश्वर में न तो वेद का, न ही दीक्षा का और न ही मुण्डनक्रिया का भान होता है, जहां गुरु, शिष्य और यन्त्रों की सम्पदा भी नहीं है, जहां मुद्रादि भी नहीं भासते हैं, उसी नित्य आत्मा में आत्मज्ञानी लीन हो जाता है। (2.32)

आत्मज्ञान का तात्त्विक विवेचन विविधरूपों में करते हुए दत्तात्रेयजी अपने चित्त को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे सखे! वृद्धावस्था और मृत्यु के भय से तुम रुदन क्यों करते हो? वस्तुतः तुम्हारा स्वरूप वृद्धावस्था और मृत्यु के भय से रहित है। जन्मादि विकारों से रहित तुम्हारा रुदन करना व्यर्थ ही है। तुम्हें यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि ज्ञान रूपी अमृतरूप एक रस आकाशवत् व्यापक मैं हूँ—हे सखे! तुम्हारा यह शरीर तुम्हारा स्वरूप नहीं है, आयु आदि विकार भी तुम्हारा स्वरूप नहीं हैं, ज्ञान रूपी अमृतस्वरूप एकरस आकाश की भांति व्यापक स्वरूप मैं हूँ। (3/34)

मुमुक्षु को ज्ञानोपदेश करते हुए दत्तात्रेयजी कहते हैं—तुम संसार का सर्वथा त्याग कर दो, फिर क्रमशः उस त्याग का भी त्याग कर दो, क्योंकि तुम स्वभाव से ही शुद्ध, अमृतस्वरूप हो। (3.46)

तात्त्विक आत्मस्वरूप का निरूपण करते हुए दत्तात्रेयजी विस्तार से आगे बताते हैं—कि मेरा पिता, माता, कुल, जाति, जन्म, मृत्यु कुछ भी नहीं है, अतः स्नेह और विद्वेष का कैसे कथन किया जा सकता है? वस्तुतः मेरा स्वरूप रागरहित मुक्त है। (4.21)

आत्मा के सर्वत्र, सदैव समरूप का विस्तार से विवेचन करते हुए भगवान दत्तात्रेय अपने मन को समझाते हुए कहते हैं कि हे मन! विचार करके तो देख, न मोक्ष पद है, न बन्ध पद है, न पुण्य पद है और न पाप पद है, न पूर्ण पद है, न रिक्त पद है, फिर तू किसलिए सन्तप्त होकर रुदन करता है। (5.19)

अद्वैत चेतन का ही विशदीकरण करते हुए अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाकर दत्तात्रेयजी आगे कहते हैं, अद्वैत चेतन में गुरु-शिष्य उपदेश आदि का विचार नहीं है। मैं शिव रूप परमार्थ रूप हूँ, अतः अभिवादन का व्यवहार कैसे हो। (6.23)

अपने उपदेश के अंतिम आठवें अध्याय में दत्तात्रेयजी ने मुनि, कवि (साधु), तथा अवधूत के लक्षणों का वर्णन किया है। निष्काम, इन्द्रियजेता, मृदुल स्वभाव, निर्मलमति, अपरिग्रही, शान्त, स्वल्पभोजी, स्थिरबुद्धि, आत्मा की शरण प्राप्त का ही नाम मुनि है। (8.2)

प्रमादहीन, धैर्यवान्, गम्भीरात्मा, इन्द्रियों के छः दोषों को जीतने वाला, स्वयं मान से रहित, दूसरों को मान देने वाला, दयालु कवि (साधु) कहलाता है। (8.3)

अवधूत शब्द में चार वर्णों—अ, व, धू, त— के क्रम से उत्तात्रेयजी अवधूत के लक्षण बताते हुए कहते हैं—जो आशा के पाश से मुक्त है, जो सर्वदा निर्मल है तथा जो निरन्तर ब्रह्मानन्द में लीन रहता है, यह लक्षण अवधूत में अकार का है। (8/6)

जिस पुरुष ने वासना का त्याग कर दिया है, जिसकी वाणी किसी को संताप नहीं पहुंचाती है, जो सदैव वर्तमान में ही व्यवहारशील है, वकार से अवधूत का यही लक्षण है। (8/7)

जिसके सब अङ्ग धूल से धूमिल हैं, जिसका चित्त निर्मल और जो रोगों से रहित है, धूकार का यही लक्षण है। (8/8)

जिसने आत्मतत्त्व की चिन्ता को धारण करके सांसारिक चिन्ता और चेष्टाओं का त्याग कर दिया है, अज्ञान और अन्धकार से जो विमुक्त हो गया है, यही तकार का लक्षण है। (8.9)

आनन्दमूर्ति भगवान दत्तात्रेय ने इस अवधूतगीता का प्रणयन किया है। जो इस गीता का पाठ करते हैं अथवा उसका श्रवण करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। (8.28) इस अध्याय में नारी के संग को संसार में बाँधने वाला बताते हुए उसकी निन्दा भी की गई है।

अवधूतगीता को दत्तात्रेय द्वारा प्रोक्त होने से दत्तगीता भी कहा जाता है।

सहायक आचार्य,
एस.एस. खन्ना गर्ल्स डिग्री कॉलेज,
प्रयाग।
आवास—1208, बरकत नगर, टौंक फाटक,
जयपुर-302015
दूरभाष : 9782432200

शारीरिकशुद्धौ मानसिक-आध्यात्मिकविकासे च योगशास्त्रस्य भूमिका

प्रो. सुशिमः दुबे
डॉ.मधुसूदनः दासः

शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिकशक्तेः विकासनार्थं योगशास्त्रस्य भूमिका अतुलनीयम्। किं च योगशास्त्रं मानवानां कृते अमूल्यसम्पदं वक्तु शक्यते। *घेरण्डसंहितायां* घेरण्डमहामुनिना तदेव उक्तं—**'नास्ति योगात् परं बलम्'**।[1]

आधुनिकयुगे योगशास्त्रस्य महती आवश्यकता वर्तते। शरीर स्वास्थ्य रक्षणार्थं वास्वास्थ्यलाभे योगशास्त्रं महत्त्वं अधुना सर्वैः स्वीक्रियते। किञ्च योगशास्त्रं तु मानवानां शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिकोपकारार्थमत्यन्तं प्रयोजनीयं वर्तते। योगशास्त्रस्य तत्त्वं न केवलं पातञ्जलशास्त्रे वर्त्तते अपि तु *महाभारत-रामायण-वेदोपनिषद्-*पुराणादिष्वपि महिमा परिलक्ष्यते एव।

योगदर्शनं दर्शनेषु अन्यतमं वर्तते। अस्य योगशास्त्रस्य रचयिता महर्षिः पतञ्जलिः। अयं पतञ्जलिःपञ्चविंशतितत्त्वेषु पुरुषविशेषरूपेण ईश्वरमपि स्वीकरोति, अतः एव अस्य दर्शनस्य 'सेश्वरसांख्यदर्शनम्' इति नामान्तरम्। अस्यैव शास्त्रस्यापरं नाम 'सांख्यप्रवचनम्' इति। एतद्दर्शनं पतञ्जलिना प्रणीतं 'पातञ्जलदर्शनम्' इत्यपि व्यवहारयोग्यं भवति। यद्यपि पतञ्जलेः पूर्वं हिरण्यगर्भयाज्ञवल्क्यादयः अनेके आचार्याः योगशास्त्रस्य प्रवक्तारः आसन्, तथापि जनसाधारणानां कृते पतञ्जलिरेव तं योगशास्त्रं सूत्ररूपेण ग्रन्थीकृत्य सम्यक् सरलरीत्या व्याजहारेति हेतोः अस्य योगदर्शनस्य 'पातञ्जलदर्शनम्' इति नाम सयुक्तिकं तिष्ठति।

इदं तात्पर्यं 'योगः' पदस्यव्युत्पत्त्याऽपि स्पष्टमस्ति। 'युज्समाधौ' धातोःयोगशब्दस्य निष्पत्तिः संजाता। आत्मनः परमात्मनि विलय एव योग उच्यते। महर्षिपतञ्जलिना योगशास्त्रस्य समाधिपादे आदौ लिख्यते—**'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः'।**[2] अस्मिन्योगशास्त्रे चत्वारः पादाः सन्ति। तेषां नामानि क्रमेण समाधिपादः, साधनपादः, विभूतिपादः, कैवल्यपादश्चेति वर्त्तते।

'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'[3] इत्यादिसूत्रद्वारा चञ्चलचित्तपुरुषाणां तपः स्वाध्यायादिक्रियायोगः एवं यमनियमादिबहिरङ्गसाधनभूतानां तत्त्वानामुल्लेखः कृतः। अत्र तपः इतिशब्देन चान्द्रायणादिक्लेशकारकस्य तपसः अर्थावबोधो न भवति, यतः चान्द्रयणादयः शरीरे क्लेशजनकत्वात्तेन चित्तस्य ऐकाग्रं न तिष्ठति। अत्र तपः शब्दस्य

अर्थः इत्थंभूतः भवति-हितकारकं स्वल्पं सात्त्विकभोजनं तथा शीतोष्णसुखदुःखादीनां सहनं एवमिन्द्रियाणां निरोधात्मकं यद्भवति तत्तपः इत्युच्यते। योगशास्त्रे तपः प्रसन्नकरणात्मकं वर्त्तते न तु पीडात्मकम्। स्वाध्यायस्यार्थः-मोक्षशास्त्राध्ययनं अथवा नियमपूर्वकं प्रणवादिजपानुष्ठानमिति। ईश्वर-प्रणिधानं नाम परमात्मनः अनुचिन्तनम् अथवा परमात्मनि सर्वकर्मणां समर्पणम् इतिभावः। सर्वेषु क्रियायोगेषु ईश्वरप्रणिधानं नाम क्रियायोगः उत्तमः इति स्वीक्रियते।

'जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः' इति सूत्रेण पञ्चानां सिद्धीनां वर्णनं क्रियते। देवतानां सिद्धिः जन्मना एव जायते। एवं पक्षिणामाकाशे उड्डयनं पशूनां जलतरणमित्यादि जन्मतः एव प्रसिद्धः। औषधेभ्यः सिद्धिः प्राप्यते। आयुर्वेद, रसेश्वरदर्शनादिषु सिद्धिरियं वर्णिता। मन्त्रेण एवं तपोबलेन सिद्धीनां प्राप्तिवर्णनं तन्त्रादिशास्त्रेषु उपलभ्यते। समाधेः सिद्धिःयोगशास्त्रस्यास्य अन्तिमलक्ष्यं भविष्यति। यमनियमादि अष्टाङ्गोपासनेन यदा योगवृक्षः फलति तदा पूर्णभावनया समाधिरूपफलपरिपाकानन्तरं प्रकृतिपुरुषयोः भेदात्मकः साक्षात्कारः सिध्यति। तदानीम् असङ्गः पुरुषः स्वस्वरूपावस्थानेन तिष्ठतीति कृत्वा आत्यन्तिकदुःखविनाशरूपः मोक्षः सिध्यति।

वैदिकी जीवनपद्धतिः धर्मार्थकाममोक्षरूपिणी पुरुषार्थचतुष्टये आश्रिता वर्त्तते। अन्तिमः पुरुषार्थः एव जीवनस्य अन्तिमम् उद्देश्यम् अस्ति। तदर्थमेव दर्शनशास्त्राणां प्रवृत्तिर्जायते यद्यपि सर्वाणि दर्शनानि स्व-स्वसिद्धान्तानुसारं मोक्षस्य निरूपणं कुर्वन्ति तथापि योगदर्शनं मोक्षस्य कृते साक्षात्कृतयत्नो विधीयते।

अस्य आत्मसाक्षात्कारस्य शास्त्रीयं मार्गदर्शकं योगशास्त्रमस्ति। समाधेरवस्थायाः अपरः पर्यायो योगः एवास्ति। चित्तवृत्तिः बाह्यजगतो आन्तरतत्त्वे स्थिरयेत् इत्याकार कोऽयं योगमार्गोऽत्र प्रतिपादितः। योगदर्शनं वैदिक-दर्शनमस्ति, यतो हि वेदेषु उपनिषत्सु च योगस्य सोपायं वर्णनं प्राप्यते। प्राचां ऋषीणां त्रैकालिक-ज्ञानस्य मूलमिदं योगदर्शनमस्ति, अतोऽस्य प्राचीनता असन्दिग्धा वर्त्तते।

योगशास्त्रे 'शुद्धिः' विषये बहुत्र चर्चा जाता। शारीरिक-मानसिकशुद्धौ आध्यत्मिक विकासे च चर्चा कृतासीत्। प्रधानतया मानवीय-शारीरिकशुद्धिं किमर्थमावश्यकम् तद् विषये चर्चा विशद्रूपेण आवश्यकी वर्त्तते। पवित्रसंकल्पनायां शुचितायाः महत्त्वं वादातीतम्। आरोग्यदृष्ट्या रोगादिनां निवारणार्थं जलेन मृत्तिकया वा इन्द्रियाणां प्रक्षालनं सावधानेन मनसा कुर्वन्ति स्म अस्माकं पूर्वजाः। अतिथिसत्कारविधौ प्रवासपरत्वात् पांसुबहुलगात्रस्य अतिथेः पादप्रक्षालनं नाम महत्त्वपूर्णसंयुताविधिः इति कृत्वा उपवर्णिताः शास्त्रेषु। तथा न केवलं शरीरशुद्धेः अपि तु मनसः शुद्धिः, बुद्धेर्वा शुद्धिः अपि तेषाम् अभिमता आसीत्। तत्रोक्तं मनुना—

अद्भिः गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥[4]

आधुनिके अर्थप्रधाने युगे भ्रष्टाचारः प्रामुख्येन धनसम्बन्धितेषु व्यवहारेषु एव दृष्टिगोचरो भवति। सार्वजनिकसंस्थासु अर्थविभागप्रमुखेन निष्कलङ्कचरित्रेण भाव्यम् इति सर्वैः अपेक्ष्यते।

शारीरिकशुद्धेः योगः—यस्य कर्मणः करणेन शरीरं श्रान्तं भवति, तत् कर्म एव व्यायामः इति उच्यते। शास्त्रे उक्तं यत्—'**शरीरायासजननं कर्म व्यायामोच्यते।।**'[5] अपि च—

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्।।[6]

अर्थात् शरीरेण क्रियमाणा या चेष्टा शरीरं दृढं करोति, बलं च वर्धयति, सा चेष्टा एव व्यायामः इति उच्यते। व्यायामः शरीरस्य शक्तेः अनुसारं करणीयः। यथोक्तं संहितायाम्—

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता। दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा।।
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता। आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते।।
न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्। न च व्यायामिनं मर्त्यं मर्दन्त्यरयो बलात्।।
न चैनं सहसाऽक्रम्य जरा समधिरोहति। स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च।।[7]

अर्थात् प्रतिदिनं व्यायामकरणेन शरीरं पुष्टं भवति, शरीरस्य कान्तिः वर्धते, शरीराङ्गानि घनयुक्तानि दृढानि च भवन्ति, जठराग्निः दीप्तः भवति, आलस्यम् अपगच्छति, शरीरं स्थिरं लघु च भवति, देहस्य **शुद्धिः** भवति। यः नित्यं व्यायामं करोति, सः श्रमयुक्तं कार्यं कर्तुं शक्नोति, क्लान्तिं पिपासाम् औष्ण्यं शैत्यं च सोढुं समर्थः भवति। व्यायामस्य करणेन शरीरम् आरोग्ययुक्तं भवति। शरीरस्य स्थूलतायाः निर्वारणार्थं व्यायामं विहाय अन्यत् उत्तमं कर्म नास्ति। शत्रवः व्यायामिनं जनं जेतुं न शक्नुवन्ति। व्यायामशीलः शीघ्रं वार्धक्यं न प्राप्नोति। व्यायामशीलस्य जनस्य मांसानि दृढानि भवन्ति। वातरोगी पित्तरोगी बालः वृद्धः अजीर्णरोगी च व्यायामं न कुर्यात्। यथा—'**वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णा च तं त्यजेत्।।**'[8]

बलयुक्तैः जनैः तथा च ये स्निग्धपदार्थानाम् अधिकं सेवनं कुर्वन्ति तैः जनैः अपि अर्धशक्त्या व्यायामः करणीयः। तथैव शीतकाले वसन्तकाले च अपि अर्धशक्त्या एव व्यायामः करणीयः। अर्थात्—

अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः। शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा।।[9]

अन्येषु ऋतुषु वृष्टिकालादिषु तु स्वल्पः व्यायामः करणीयः। यथोक्तं शास्त्रे—

हृदयस्थो यदा वायुर्वक्त्रं शीघ्रं प्रपद्यते। मुखं च शोषं लभते तद्बलार्धस्य लक्षणम्।।
किं वा ललाटे नासायां गात्रसन्धिषु कक्षयोः। यदा सञ्जायते स्वेदो बलार्धं तु तदादिशेत्।।[10]

व्यायामकरणेन यदा हृदयस्थः वायुः मुखं शीघ्रं प्राप्नोति अर्थात् शीघ्रं श्वासोच्छवासः भवति, मुखं च शुष्कं भवति तदा बलार्धं यावत् व्यायामः कृतः इति ज्ञातव्यम्। अथवा यदा ललाटे नासिकायां शरीरस्य सन्धिस्थानेषु, कक्षयोः च स्वेदः जायते तदा बलार्धं यावत् व्यायामः कृतः इति ज्ञातव्यम्। स्वस्य शरीरस्य बाह्यशुद्धावपि योगस्य आवश्यकता वर्त्तते यथा—

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।।[11]

अर्थात्—नगरस्य पालकः नगरस्य रक्षार्थं सर्वदा तत्परः भवति, रथी अर्थात् रथस्य चालकः सर्वदा रथसञ्चालनं जागरूकतया करोति, तथैव बुद्धिमान् जनः स्वस्य शरीरस्य रक्षणपोषणादिषु कार्येषु सर्वदा जागरूकः भवेत्। यथोक्तं शास्त्रे—

नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलाङ्घ्रिमलायनः। स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्बणोज्वलः।।[12]

अर्थात्—स्वस्थः मनुष्यः नियमितरूपेण रोम-नख-श्मश्रूणि कर्तयित्वा लघूनि एव स्थापयेत्, सर्वदा शरीरस्य मलद्वाराणि शुद्धानि स्थापयेत्, प्रतिदिनं स्नानं कुर्यात्, स्नानस्य अनन्तरं शरीरे चन्दनादीनां सुगन्धद्रव्याणां लेपनं कुर्यात्, तेन शरीरं सुगन्धितं भवति। मनुष्यः स्वच्छस्य तथा च सुन्दरस्य वस्त्रस्य धारणं कुर्यात्।

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि-रूपविराजनम्। केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं सम्प्रसाधनम्।।[13]

अर्थात्—केश-श्मश्रु-लोम-नखादीनाम् उचिते काले छेदनात् सम्प्रसाधनात् च शरीरं पुष्टं भवति, शुक्रम्, आयुः, शरीरस्य पवित्रता, रूपसौन्दर्यं च वर्धते। यथा—

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्। शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्।।[14]

अर्थात्—स्नानस्य करणेन शरीरं पवित्रं भवति, शुक्रस्य वृद्धिः भवति, आयुषः वृद्धिः भवति, श्रमस्य स्वेदस्य शारीरिकमलस्य च निवारणं भवति, शरीरं निर्मलं भवति, बलस्य ओजसः च वृद्धिः भवति।

अस्यते आस्ते वा अनेनेति आसनमिति व्युत्पत्या एवमर्थो यत् येन स्थिरता सुखप्राप्तिश्च जायते साधकस्य तदासनमिति कथ्यते। योगासनविषये पतञ्जलिना उक्तं यत्—**'स्थिरं सुखमासनमिति'**[15] स्वाभाविकतया योगशास्त्रसम्मतः कोऽपि व्यक्ति सरलतया पद्मासन-वज्रासन-गोमुखासन-सिद्धासनञ्च इत्यादिनि आसनानि प्रतिदिनं करोति चेत् तस्य आरोग्यं भवति। सामान्यतया तस्य रोगः न उत्पत्स्यते अपि च शारीरिकशुद्धिरूपेण जीवन-यापनं कर्तुमर्हति।

दन्तशुद्धिः—

एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन तु। दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन्।।[16]

अर्थात् दन्तशोधनचूर्णसहितेन कोमलेन दन्तकूर्चेन दन्तमांसानां पीडा यथा न भवेत् तथा एकैकस्य दन्तस्य घर्षणं मन्दं करणीयम्।

दन्तान् पूर्वमधो घर्षेत् प्रातः सिञ्चेच्च लोचने। तोयपूर्णमुखो ग्रीष्मशरदोः शीतवारिणी।।[17]

अर्थात् दन्तधावनकाले प्रथमतः अधोभागे विद्यमानानां दन्तानां घर्षणं करणीयम्, तदनन्तरम् ऊर्ध्वभागे विद्यमानानां दन्तानां घर्षणं करणीयम्। अनन्तरं मुखे जलं स्थापयित्वा नेत्रयोः सेचनं करणीयम्। ग्रीष्मर्तौ शरदृतौ च शीतलजलेन नेत्रयोः सेचनं करणीयम्। अन्यस्मिन् ऋतौ अल्पोष्णेन जलेन नेत्रयोः सेचनं करणीयम्।

जिह्वाशुद्धिः—

तथाऽस्य मलवैरस्य गन्धा जिह्वास्यदन्तजाः। रुचिवैशद्यलघुता न भवन्ति भवन्ति च।।[18]

अर्थात् जिह्वायाः निर्लेखनेन मुखे विद्यमानं मलम् अपगच्छति, मुखस्य विरसता नश्यति तथा च मुखात् दुर्गन्धः न आगच्छति। भोजनादिषु रुचिः वर्धते, मुखस्य दन्तानां च स्वच्छता लघुता च भवति।

जिह्वानिर्लेखनं रोप्यं सौवर्णं ताक्ष्र्यमेव च। तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम्।।[19]

अर्थात् जिह्वानिर्लेखनं अर्थात् शोधनार्थं यस्य वस्तुनः उपयोग क्रियते, तस्य नाम अपि जिह्वानिर्लेखनम् इति एव उच्यते। जिह्वानिर्लेखनं सुवर्णेन रजतेन ताम्रेण वा निर्मितं भवेत्। तत् मलनाशकं मृदु श्लक्ष्णं तथा दशाङ्गुलपरिमितं दीर्घं च भवेत्।

शिरशुद्धिः—

नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते। न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च।।
बलं शिरःकपालानां विशेषेणाभिवर्धते। दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च।
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्।। निद्रालाभः सुखं स्यान्मूर्ध्नि तैलविषेवणात्।।[20]

अर्थात् यः मनुष्यः प्रतिदिनं तैलेन शिरसोः अभ्यञ्जनं करोति, तेन अभ्यञ्जनेन च आर्द्रशिरः भवति, तस्य मनुष्यस्य शिरोवेदना न भवति। तस्य खालित्यं न भवति, केशाः श्वेताः न भवन्ति, केशानां पतनं न भवति, शिरःकपालानां बलं वर्धते, केशाः दृढमूलाः दीर्घाः कृष्णाः च भवन्ति, इन्द्रियाणां तृप्तिः भवति, मुखं सुन्दरं भवति, सम्यक् निद्रासुखं भवति।

कर्णशुद्धिः—

न कर्णरोगा न मलं न च मन्या हनुग्रहः। नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यात् नित्यं कर्णपूरणात्।।[21]

अर्थात् तैलेन कर्णयोः पूरणात्कर्णयोः आरोग्यं भवति। कर्णयोः मलं न जायते, कण्ठावरोधः हनुग्रहः च न भवतः, उच्चैः श्रुतिः अर्थात् मन्दस्वरस्य अग्राह्यता न भवति, बाधिर्यम् अपि न भवति।

आहारशुद्धिः—

आहारः शरीरस्य स्वस्थस्य च प्रथमः उपस्तम्भः भवति। अस्माभिः भुक्तः आहार रसः भूत्वा इन्द्रियाणि तोषयति। रक्तादयः धातवः आहारेणैव पुष्यन्ति। आहारस्य अभावे धातूनां क्षयः, ततः जीवनस्य च नाशः भवति। अतः आहारः स्वस्थजीवनस्य प्रमुखः आधारः भवति। शरीरस्य संरक्षणार्थम् आदौ चिन्तनीयम् इति उच्यते–

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्। तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम्।।[22]

अर्थात् सर्वाणि कार्याणि विहाय प्रथमं शरीरस्य रक्षणं करणीयम्, यतो हि शरीरे सति अन्यत् सर्वं धर्मादिकं कार्यं भवति। शरीरस्य अभावे तु सर्वेषां कार्याणाम् अभावः एव भवति। शरीरस्य पोषणार्थम् आहारस्य आवश्यकता अस्ति। तद्यथा-

प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति। वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्।।
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्। लौकिकं कर्म यद्वृत्तौ यच्च वैदिकम्।।
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्।।[23]

अर्थात्—अन्नम् एव प्राणिनां प्राणः इति कथ्यते। सम्पूर्णः जीवलोकः अन्नस्य प्राप्तार्थं प्रयत्नं करोति। शरीरीणां वर्णसौन्दर्यं प्रसन्नता जीवनं प्रतिभा सुखं सन्तुष्टिः शरीरस्य पुष्टिः मेधा च एतत् सर्वम् अपि अन्नात् एव सम्भवति। लौकिकसुखाय यत् लौकिकं कृष्यादिकं कर्म क्रियते, स्वर्गकामनया यत् यागादिकं वैदिकं कर्म अथवा अपवर्गसाधनार्थं यत् उपवासनादि कर्म क्रियते, तत् सर्वम् अपि अन्ने अन्तर्भूतम् भवति। अन्नेन विना लौकिकादिकं सुखसाधकं किमपि कार्यं न सिद्ध्यति।

अनन्तरम् आहारशुद्धेऽपि गुणाः उच्यन्ते। तद्यथा—

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः। आयुस्तेजः समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धनः।।[24]

अर्थात् भुक्तः आहारः इन्द्रियाणि प्रीणयति, बलं वर्धयति, शरीरस्य धारणं करोति, आयुषः तेजसः ओजसः उत्साहस्य स्मरणशक्तेः जठराग्नेः च वर्धनं करोति। अत एव अन्नं यदि अनियमेन भुक्तं तर्हि अहितकरम् एव भवति। यथोक्तं शास्त्रे—

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तयुक्तं रसायनम्।।[25]

अर्थात् अन्नं प्राणिनां प्राणाः इति उच्यते, यतो हि अन्नम् एव जीवनस्य आधारः भवति। तथापि अयुक्त्या भुक्तम् अन्नं प्राणान् क्षीणयति नाशयति एव। विषं तु प्राणहरं भवति। तथापि नियमपूर्वकं सेवितं तद् विषं रसायनम् इव भवति। यथा—

काले सात्म्यं शुचिं हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः। षड्जं मधुरप्रायं नातिद्रुतविलम्बितम्।
स्नातः क्षुद्वान् विविक्तस्थो धौतपादकराननः।। तर्पयित्वा पितॄन् देवानतिथीन् बालकान् गुरून्।
प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽपि प्रतिपन्नपरिग्रहान्।। समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन् द्रवम्।
इष्टमिष्टैः सहाश्नीयाच्छुचिभक्त-जनाहृतम्।।[26]

अर्थात् शास्त्रे निर्दिष्ट भोजनकाले बुभुक्षितेन जनेन स्नानं कृत्वा हस्तौ पादौ मुखं च प्रक्षाल्य शुद्धेन भाव्यम्। तदनन्तरं पितॄणां देवानाम् अतिथीनां बालकानां गुरूणां च कृते भोजनं दातव्यम्। ततः पाल्यजन्तुभ्यः गवादिभ्यः अपि भोजनं दातव्यम्। तदनन्तरं स्वस्य कृते हितकरं सात्म्यम् असात्म्यं च अन्नं सम्यक् विचार्य भोजनं स्वीकरणीयम्। भोजनम् एकान्ते स्थित्वा करणीयम्। भोजनसमये अन्यस्मिन् विषये चिन्तनं न करणीयम्

अर्थात् एव मनः करणीयम्। सात्म्यं शुद्धं हितकरं स्निग्धम् उष्णं लघुप्रायम्, षड्भिः रसैः सहितं तत्रापि आधिक्येन मधुररसेन युक्तं, द्रव्यमयम् अन्नं भोक्तव्यम्। स्नानादिभिः शुद्धैः जनैः आनीतं, रुचियुक्तं च अन्नं भोक्तव्यम्। भोजनसमये पुरतः विद्यमानस्य अन्नद्रव्यस्य निन्दा न करणीया। भोजनसमये भाषणं न करणीयम्। बन्धुजनैः इष्टजनैः सह उपविश्य आनन्देन भोजनं करणीयम्। भोजने अतिशीघ्रता न करणीया अथवा अधिकसमयं यावत् अपि भोजनं न करणीयम्।

अधुना आसनानुष्ठानेन रोगाणाम् उपशमः भविष्यतीति आलोच्यते। केषां रोगाणां कृते कानि कानि आसनानि हठयोगे निर्दिष्टानि, तदत्र वर्ण्यते। प्रथमतः कथितं यत् आहारस्य नियमितता अपेक्ष्यते। योगशास्त्रे मिताहारं उपदिष्टम्, यः कोऽपि रोगः भवति तन्निवारणाय समुचिताहारविश्रामपुरस्सरम् आसनकरणेन तत्फलप्रदं भवति। भूरिभोजनेन पाचनक्रिया क्रियाशीला न भवति, रोगान् च जनयति। अतः उक्तं यत्—

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्। नानारोगो भवेत्तस्य किञ्चिद्योगो न सिध्यति॥[27]

अनन्तरं निरोगाय क्रियाणामपि आवश्यकता वर्त्तते। शरीरस्य आभ्यन्तरप्रदेशस्य शोधनं, मलशून्यं च भवेत्। हठयोगे आभ्यन्तरशोधनार्थं षट्कर्मणां वर्णनं दृश्यते। यथा—

धौतिवस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥[28]

एतेन कर्मषट्केन शरीरस्य आभ्यन्तरशोधनं भवति। यथा क्रमान्वये प्रथमं तावत् धौतिकर्मं यथोक्तं हठयोगविदा स्वात्मारामेण *हठयोगप्रदीपिकायां*—

चतुरङ्गुलिविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्। गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहारेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्॥[29]

अनन्तरं द्वितीयस्तावत् वस्तिकर्म यथा—

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः। आधारकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥[30]

अनन्तरं तृतीयस्तावत् नेतिकर्म यथा—

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्। मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते॥[31]

अनन्तरं चतुर्थं वर्त्तते त्राटकं यथा—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः। अश्रुसम्पातपर्यन्तम् आचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥[32]

अनन्तरं पञ्चमं वर्तते नौलिकर्मं यथोक्तं *हठयोगप्रदीपिकायां*—

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः। नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते॥[33]

अन्तिमं वर्त्तते कपालभाति यथा—

भस्त्रवल्लोहकारस्य रेच-पूरौ ससम्भ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी।।[34]

आभ्यन्तरशोधनेन बाह्यप्रदेशोऽपि प्रफुल्लो भवति। परन्तु एतानि षट्कर्माणि न सर्वेषां कृते। मेदाधिकस्थूलमनुष्यस्य कृते, श्लेष्मायुक्तपुरुषस्य कृते च षटकर्माणाम् आवश्यकता अस्ति। यथा—

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्। अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥[35]

मानसिकशक्ति विकासे योगः—

आधुनिकयुगे मानवेषु नानाविधाः शारीरिकीसमस्याः दृश्यन्ते। मानसिकचिन्तनेनाऽपि नाना रोगोत्पत्तिः जायते। तदेव प्रथमतया मानसिकशुद्धेः आवश्यकता वर्त्तते। अत एव मानसिकी चिन्तानिवारणार्थं योगशास्त्रे यत् किमपि आलोच्यते तदेव अत्र विवृणोमि—

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः। तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते॥[36]

अर्थात्—यत्रेति! वा अथ वा यत्र कुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्धने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरो भूत्वा तेन नादेन सार्धं विलीयते। अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारो द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः। *हठयोगप्रदीपिकायां* उक्तं यत्—

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः। नियमेन समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः॥[37]

अर्थात्—मन इति। विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीतिविषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेन्द्रौ दुर्निवारत्वात्। तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निरिताङ्कुशः तीक्ष्णाङ्कुशःनियमेन परावर्तने समर्थः शक्तः। एतैः श्लोकैः। **'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारःप्रकीर्तितः।'**

इन्द्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः परोक्तः। यथोक्तं—

बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम्। प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥[38]

अर्थात्—नादबन्धेन मनः,बध्यतेऽनेनेति बन्धः, स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बन्धनमिव प्राप्तम्। नादधारणादावासक्तमित्यर्थः अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणे क्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनःसुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणामेति। तत्र दृष्टान्तमाह छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा एतेन। **`प्राणायामेन पवनं प्रत्याहिण चेन्द्रियम्। वशीकृत्यततः कुर्याचित्तस्थैर्ये शुभाश्रये`॥**

शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणे व्यक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा। नाद एवायुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता।।[39]

अर्थात्—सर्वचिन्तामिति! सर्वेषां बाह्याभ्यन्तरविषयाणां या चिन्ता चिन्तनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः। राजयोगात्मिति यावत्। इच्छता वानेच्छता पुंसा नाद एवानाहतष्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिन्तनीयः। नादाकार-तरतिप्रवाहः कर्त्तव्य इत्यर्थः। *अष्टांगहृदयं* सूत्रोक्तं यत्—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते। सम्भिन्नालापं व्यापादमभिद्यां दृग्विपर्ययम्।।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्।।

अर्थात्—हिंसा, चौर्यम्, अगम्यागमनम् अर्थात् निषिद्धाभिः स्त्रीभिः सह रतिः, परेषां भेदकारकं वचनं, कटुवचनम्, असत्यभाषणम्, असम्बद्धं वचनम्, अन्येषाम् अनिष्टचिन्तनम्, अन्यस्य धनादिकस्य अपहरणविषये चिन्तनम् अथवा अन्येषु असहिष्णुता, शास्त्रेषु उक्तस्य विपरीतम् आचरणम् च इति एतानि दश पापकर्माणि भवन्ति। एतानि कर्माणि, क्रमशः शरीरेण वाचा मनसा च न करणीयानि। संहितायामुक्तं यत्—

प्रज्ञापराधात् संभूते व्याधौ कर्मज आत्मनः। नाभिशंसेद्बुधो देवान् पितॄन्नापि राक्षसान्।।
आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः। तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्यते नो त्रसेत्।
देवादीनामपचितिर्हितानां चोपसेवनम्। ते च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि।।[40]

अर्थात्पूर्वं प्रज्ञापराधस्य कारणात् कृतानाम् अनुचितकार्याणां परिणामरूपेण रोगाः आगच्छन्ति। अतः आत्मनः आगन्तुकस्य रोगस्य कारणं देवाः पितरः राक्षसाः वा सन्ति इति मत्वा तेषां निन्दनं न करणीयम्। अपि तु आगतस्य रोगस्य कारणं स्वस्य प्रज्ञापराधेन कृतं कर्म एव इति ज्ञात्वा, तस्य रोगस्य निवारणार्थम् उत्तमस्य सद्वृत्तस्य आचरणं करणीयम्। देवादिभ्यः भयं न करणीयम्। देवादीनां पूजनं तथा च उत्तमम् आचरणं सुखस्य कारणं भवति। परन्तु देवादिभ्यः विरोधः अहितकरम् आचरणं च दुःखस्य कारणं भवति। अतः स्वस्य सुखस्य दुःखस्य च कारणम् अहम् एव भवामि इति सर्वदा स्मरणीयम्। संहितायामुक्तं यत्—

पापवृत्तवचः सत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः। मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः।
परापवादरतयश्चपला रिपुसेविनः। निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्याः नराधमाः।।[41]

अर्थात् ये जनाः वाचा मनसा च पापकर्मणि रताः सन्ति, अन्येषां दोषाणां प्रचारं कुर्वन्ति, सर्वदा कलहं कर्तुम् इच्छन्ति, सर्वदा अन्येषां दोषाणाम् अन्वेषणं कुर्वन्ति, अन्येषाम् उपहासं कुर्वन्ति, अन्येषां धनादीनां लोलुपाः सन्ति, अन्येषाम् उन्नतिं न सहन्ते, सर्वदा वञ्चनं कुर्वन्ति, अन्येषां निन्दां कुर्वन्ति, येषां मनः चञ्चलम् अस्ति, ये आत्मनः शत्रोः वशे सन्ति, ये दयाभावेन धर्मेण च रहिताः सन्ति ते सर्वे नराधमाः भवन्ति आप्ताः न भवन्ति। अतः तादृशानां जनानां वचनं कदापि न श्रोतव्यम् , तेषाम् अनुकरणम् अपि न करणीयम्। संहितायामुक्तं यत्—

सत्यवाचिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्। अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।।
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्। देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्।।

आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्। समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्।।
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्। शस्ताचारमसङ्कीर्ण-मध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्।।
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्। धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्।।[42]

अर्थात्—यः जनः सर्वदा सत्यं वदति, प्रियं वदति, क्रोधेन रहितः अस्ति, मद्यपानं न करोति, मैथुने आसक्तः नास्ति, हिंसां न करोति, कार्येण विना श्रान्तः न भवति, अनावश्यकं श्रमं न करोति, शान्तमनाः अस्ति, निरन्तरं मन्त्राणां जपं करोति, शरीरेण वाचा मनसा च पवित्रः अस्ति, नित्यं योग्येभ्यः दानं करोति, तपस्यायां रतः अस्ति, देवानां गवां ब्राह्मणानाम् आचार्याणां गुरूणां वृद्धानां च सेवां करोति, क्रूरः नास्ति, प्राणिषु दयावान् अस्ति, उचिते काले निद्रां जागरणं च करोति, प्रतिदिनं क्षीरस्य घृतस्य च सेवनं करोति, देशस्य कालस्य च विषये सम्यक् जानाति, कार्यस्य अनुगुणम् उचितम् उपायं जानाति, अहङ्कारेण रहितः अस्ति, शिष्टाचारेण युक्तः अस्ति, उदारः अस्ति, आध्यात्मिकेन ज्ञानेन युक्तः अस्ति, जितेन्द्रियः अस्ति, ज्येष्ठानाम् आस्तिकानां जितात्मनां च जनानाम् उपासकः अस्ति, सर्वदा धर्मशास्त्रस्य अध्ययनं करोति सः जनः रसायनम् इव हितकरः भवति, अतः तादृशस्य जनस्य अनुसरणं करणीयम्, तेन उपदिष्टानां वचनानां पालनं करणीयम्।।

न केवलं षट्कर्मादिक्रियायोगःअपि तु **प्राणायामोऽपि** शरीरस्य स्वस्थतां वर्धयति। प्राणायामः नाम प्राणस्य आयामः पातञ्जलकृतयोग-शास्त्रोक्तम्-**'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**[43] श्वासप्रश्वासयोः गतेः विच्छेदः प्राणायामः। प्राणायामः त्रिविधः। रेचकः, पूरकः, कुम्भकश्चेति। नाडीशोधनं भवति प्राणायामस्य मुख्योपयोगः। यमनियमाभ्यां संयुक्तः सन् पुरुषः यदि प्राणायाममाचरेत् तर्हि नाड्यः शुद्धाः भवन्ति। प्राणायामेन पातकस्य क्षयो भवति। मनः स्थिरो भवति। धारणायोग्यसामर्थ्यं प्राप्नोति।

अनन्तरं हठयोगानुसारं भ्रामरीप्राणायामः यथा-

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्।
योगीन्द्रणामेवमभ्यासयोगच्चिते जाता काचिदानन्दलीला॥[44]

अर्थात्—चक्षुः कर्णमुखादीनि अवरुध्य शनैः शनैः नासारन्ध्रमाध्यमेन श्वासवायुं गृहीत्वा ततः भृङ्गीनाद इव गुञ्जरणेन सह पुनः शनैः शनैः रेचकं कुर्यात्। तदा तेन गुञ्जरणेन मस्तिष्के मृदु कम्पनम् अनुभूयते। तेन कम्पनेन मस्तिष्कस्य स्नायवः स्थिराः भवन्ति। एकाग्रता आयाति। स्मरणशक्तेः वृद्धिरपि भवति। एतादृशेन अभ्यासेन शरीरे अपूर्वानन्दः अनुभूयते तथा शरीरं नीरोगं भवति।

मानसिकाध्यात्मिकयोः स्वास्थस्य कृते ध्यानस्य आवश्यकता वर्त्तते। पातञ्जलशास्त्रे ध्यानविषये उक्तं यत्-**'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'**[45] अर्थात् गङ्गाप्रवाहवत् तैलधारवद्वा अविच्छिन्नरुपेण ध्वेयवस्तुनि चित्तस्य संयोगः स्थिरो भावः ध्यानम्। धारणा विच्छिन्नरूपेण विभिन्नेषु देशेषु भवति, ध्यानन्तु अविच्छिन्नरूपेण

भवति। ध्यानं ध्येयज्ञानस्य कस्मिन्नपि स्थानविशेषे प्रावाहिकरूपेण अवस्थानं ध्यानम् उच्यते। सम्यग्रूपेण ध्यानकरणेन ध्यानमाध्यमेन मानसिकशक्तेः विकासः जायते।

आध्यात्मिकविकासः

व्यक्तेः अन्तिमम् उद्देश्यं तु सर्वपुरुषार्थाणां सिद्धिः तथा सर्वविधदुःखात् मुक्तिः भवति। यथोक्तं ईश्वरकृष्णेन *सांख्यकारिकायां*-

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।।[46]

यदा आत्मतत्त्वस्य अर्थात् स्वस्य विषये स्मृतिः भवति, तदा एव दुःखात् मुक्तिः भवितुम् अर्हति। अतः तत्त्वस्मृतिः एव दुःखात् मुक्तेः अन्तिमं सोपानमस्ति इति वक्तुं शक्यते। तर्हि कैः कारणैः तत्त्वस्मृतिः भवति, तथा च तत्त्वस्मृतेः कारणात् मनुष्यानां कृते किं करणीयम्? इति अधुना उच्यते-

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्। व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः।।
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः। विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः।।
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः। नैष्कर्म्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम्।।
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्व-परीक्षणम्। तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते।।[47]

अर्थात् सज्जानानां सेवनं, दुर्जनानां त्यागः, व्रतम्, उपवासः, नियमाः (शौचं सन्तोषः तपः स्वाध्यायः ईश्वरप्रणिधानम् इति) , धर्मशास्त्राणाम् अध्ययनं तेषां ज्ञानं च, एकान्तस्य सेवनम्, मोक्षे प्रयत्नः, इन्द्रियाणां विषयेषु अनासक्तिः इति एतैः कारणैः तत्त्वस्य स्मृतिः भवति। तत्त्वस्मृतेः कारणात् मनुष्यः लौकिकसुखं प्राप्तुं कर्म न करोति, किन्तु पूर्वकृतस्य कर्मणः फलम् उपभुज्य कर्मफलं तु नाशयति, सः एव मनुष्यः उचिते काले गृहस्थाश्रमस्य त्यागं कृत्वा वानप्रस्थाश्रमं प्रति गच्छति, स्वस्य विषये अहङ्कारं न करोति, सः विषयाणां (भोग-विलासादीनां) चिन्तनेन एव भयम् अनुभवति, मनसि बुद्धौ च जायमानानां विकाराणां स्वयम् एव समाधानं कर्तुं शक्नोति, वास्तविकस्य तत्त्वस्य परीक्षणे च समर्थः भवति।

इतोऽपि कतिपय नियमपालनेन आध्यात्मिकविकासः जायते यथा-

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृतन्तैरुपजायते। स्मृत्या स्वभावं भावनां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते।।[48]

अर्थात् पूर्वोक्तेषु श्लोकेषु सतामुपासनम् इत्यादयः विषयाः उक्ताः सन्ति। तत्र सज्जनानाम् उपासनेन, दुर्जनानां त्यागेन, व्रतस्य उपवासस्य च आचरणेन, नियमानां पालनेन, धर्मशास्त्राणाम् अभ्यासेन, एकान्तस्य सेवनेन, मोक्षार्थं प्रयत्नेन, इन्द्रियाणां निग्रहणेन च तत्त्वस्य स्मृतिः जायते। तत्त्वस्मृतेः कारणात् मनुष्यः स्वस्य वास्तविकं स्वरूपं ज्ञात्वा दुःखात् मुक्तः भवति। अपि च *चरकसंहितायां* उक्तं यत्—

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते। निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्।।
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्। दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते।।[49]

अर्थात् पूर्वं दृष्टानां श्रुतानाम् अनुभूतानां च विषयाणां स्मरणम् अष्टधा भवति, यथा- निमित्तग्रहणात्, रूपग्रहणात्, सदृशवस्तूनां दर्शनात्, विपरीतगुणेन युक्तानां वस्तूनां दर्शनात्, मनसः प्रणिधानात्, अभ्यासात्, ज्ञानयोगात्, पुनः श्रवणात् च इति।

निमित्तग्रहणात्—यदा वयं कस्यचित् कार्यस्य निमित्तकारणं पश्यामः, तदा तेन जातस्य कार्यस्य स्मरणं भवति।

रूपग्रहणात्—यदा किमपि वस्तु पश्यामः, तदा तदनुरूपस्य पूर्वदृष्टस्य अन्यवस्तुनः स्मरणं भवति। यथा- कुत्रचित् धेनुं दृष्ट्वा, पूर्वं दृष्टायाः समानरूपायाः धेनोः स्मरणं भवति।

सादृश्यात्—यदा पूर्वं दृष्टस्य वस्तुनः समानं वस्तु पश्यामः, तदा पूर्वं दृष्टस्य वस्तुनः स्मरणं भवति। यथा- पितुः समानवयस्कम् अथवा समानस्वभावेन युक्तं जनं दृष्ट्वा पितुः स्मरणं भवति।

विपर्ययात्—विपरीतेन गुणेन युक्तानां वस्तुनां तद्विपरीतस्य ज्ञातस्य वस्तुनः स्मरणं भवति। यथा- कुरूपं जनं दृष्ट्वा, पूर्वं दृष्टस्य सुरूपस्य जनस्य स्मरणं भवति। दुःखस्य अनुभवेन पूर्वम् अनुभूतस्य सुखस्य स्मरणं भवति।

सत्त्वानुबन्धात्—सत्वानुबन्धः अर्थात् मनसः प्रणिधानम्। स्मर्तव्यस्य विषयस्य यदा एकाग्रचित्तेन स्मरणं कुर्मः, तदा तस्य स्मरणं भवति। यथा- यदा पूर्वं ज्ञातः विषयः न स्मर्यते तदा एकाग्रः भूत्वा तस्य स्मरणार्थं प्रयासं कुर्मः।

अभ्यासात्—यः स्मरणयोग्यः विषयः अस्ति, स्मरणार्थं निरन्तरम् अभ्यासः करणीयः। तेन सः विषयः स्मृतौ तिष्ठति।

ज्ञानयोगात्—तत्त्वस्य ज्ञानेन अपि पूर्वज्ञातस्य स्मरणं भवति।

पुनः श्रुतात्—यदा पूर्वं श्रुतस्य अथवा दृष्टस्य विषयस्य विस्मरणं भवति, तदा कदाचित् तस्मिन् विषये किञ्चित् पुनः श्रूयते चेत् पूर्वस्य स्मरणं भवति। अत एव मानसिकचिन्तनमेकमन्तर्निहितकला यस्य प्रभावेण मानवाः देवतां भवितुमर्हन्ति। इति शम्।

सन्दर्भाः

1. *घेरण्डसंहिता*-1.4
2. *पातञ्जलयोगसूत्र*- 1.2
3. *पातञ्जलयोगसूत्र* -2.1
4. *मनु संहिता*- 5-109

5. *अष्टाङ्ग संग्रह सूत्रस्थान* - 3.62
6. *चरक संहिता सूत्रस्थान* - 7.31
7. *सुश्रुत संहिता चिकित्सास्थान* - 24.39-42
8. *अष्टाङ्गहृदयसूत्र*- 2.11
9. *अष्टाङ्ग संग्रह सूत्रस्थान* - 3.63
10. *भावप्रकाशपूर्व* - 5.62-63
11. *चरकसंहिता सूत्र*- 4.103
12. *अष्टाङ्ग संग्रह सूत्रस्थान* – 2.31
13. *चरकसंहिता सूत्र* – 5.99
14. *चरकसंहिता सूत्र* – 5.94
15. *पातञ्जलयोगसूत्र* – 2.46
16. *भावप्रकाशपूर्व* – 5.25
17. *अष्टाङ्ग संग्रह सूत्रस्थान* – 3.23
18. *अष्टाङ्ग संग्रह सूत्रस्थान* – 3.18
19. *सुश्रुत संहिता चिकित्सास्थान* – 24.13
20. *चरकसंहिता सूत्र* – 5.81-83
21. *भावप्रकाशपूर्व* – 5.71
22. *चरकसंहिता निदान* – 6.7
23. *चरकसंहिता सूत्र* – 27.349-351
24. *चरकसंहिता चिकित्सा* – 24.68-69
25. *चरकसंहिता चिकित्सा* – 24.60
26. *अष्टाङ्गहृदयसूत्र* – 8.35-38
27. *घेरण्डसंहिता* – 5.16
28. *हठयोगप्रदीपिका*- 2.22
29. *हठयोगप्रदीपिका* - 2.24
30. *हठयोगप्रदीपिका* - 2.26
31. *हठयोगप्रदीपिका* - 2.29
32. *हठयोगप्रदीपिका*- 2.31
33. *हठयोगप्रदीपिका*- 2.33
34. *हठयोगप्रदीपिका* - 2. 35
35. *हठयोगप्रदीपिका*- 2.21
36. *हठयोगप्रदीपिका*- 4.89
37. *हठयोगप्रदीपिका*- 91
38. *हठयोगप्रदीपिका*- 4.92
39. *हठयोगप्रदीपिका*- 4.93
40. *चरकसंहिता निदान* – 7.21-23
41. *चरकसंहिता सूत्रस्थान* – 7.56-57
42. *चरक संहिता चिकित्सास्थान* – 1.4.30-24
43. *योगसूत्र*- 2/49
44. *हठयोगप्रदीपिका*- 2.68
45. *योगसूत्र*- 3/2
46. *सांख्यकारिका*- 1

47. *चरकसंहिता शारीरस्थान* -1.143-146
48. *चरकसंहिता शारीरस्थान* -1.147
49. *चरकसंहिता शारीरस्थान* – 1.148-149

सहायकग्रन्थसूची–

1. *आयुर्वेदीय जीवनपद्धतिः,* संस्कृतसंवर्धनप्रतिष्ठानम्, वेदभवनम्, गौशालामार्गः, 2010 देहली – 110006.
2. *घेरण्ड-संहिता,* आचार्य श्रीनिवास शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली – 110007
3. *आरोग्य – अङ्क,* गीताप्रेस, गोरखपुरम्, दिल्ली
4. *हठयोगप्रदीपिका,* स्वात्मारायोगीन्द्रः,Theosophical Publishing House , Adyar, Madras, India - 1933
5. *पातञ्जलयोगदर्शनम्*- गीताप्रेस, गोरखपुरम्, दिल्ली
6. *पातञ्जलयोगदर्शनम्* (व्यासभाष्य एवं भोजवृत्ति) - चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली – 110007
7. *श्रीमद्भागवतमहापुराणम्,* शर्मा विद्यानन्द प्रसाद, प्रथम संस्करण-2006, नन्द किशोर सिंह जानकी प्रकाशन, पटना-800004,

आचार्योऽध्यक्षः, दर्शनशास्त्रविभागे. संयोजकश्च-विपश्यना योगश्च
नव-नालन्दा-महाविहारः(सम-विश्वविद्यालयः),
संस्कृति-मंत्रालयः, भारत-सर्वकारः, नालन्दा-803111
चलवाणी-7982689813
एवं
शोध-सहायकः

नैतिक उत्थान का सोपान : अष्टांगिक योग का शौच

डॉ. नीलम

जीवन में नियम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सदाचार के माध्यम से श्रेष्ठ कर्तव्यों का प्रवर्तन करना ही नियम का मुख्य उद्देश्य है। यम और नियम संपूर्ण आचार शास्त्र की आधारशिला है। *योगसूत्र* के रचनाकार महर्षि पतंजलि के मतानुसार—**शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः** अर्थात शौच्, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं। जहां यम सामाजिक जीवन की आधारशिला हैं, वहीं नियम व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के आधारस्तंभ हैं। आत्म उत्थान के साथ-साथ जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं के निराकरण में इनकी भूमिका अत्यंत सार्थक एवं ग्रहणीय है।

शौच का नियम में प्रथम स्थान है। शौच से अभिप्राय जीवन में शुचिता या पवित्रता से है। बाह्य एवं आभ्यन्तर दृष्टिकोण से शौच के दो भेद हैं। बाह्य-शौच के अंतर्गत शारीरिक शुद्धि आती है। शरीर आत्म उन्नति का प्रधान साधन है। शारीरिक शौच मानसिक शौच में अत्यंत सहायक है। शारीरिक शौच का जीवन में क्रियान्वयन करने हेतु नियत समयानुसार दिनचर्या एवं उचित आहार-विहार का सतत पालन आवश्यक है। आहार शुद्धि बाह्य-शौच का महत्त्वपूर्ण अंग है। पवित्रता का आदर्श मापदंड आर्थिक पवित्रता है। कहा गया कि अर्थशुचिः शुचिः अर्थात आर्थिक पवित्रता ही वास्तविक पवित्रता है ईमानदारी एवं कर्तव्यनिष्ठा से अर्जित आय से आहार शुद्ध होता है। इसके साथ ही आहार शुद्धि हेतु आहार का सात्विक एवं निरामिष होना भी आवश्यक है।

आभ्यन्तर-शौच से अभिप्राय मनोनिग्रह अर्थात संयमित मन से है। व्यक्तित्व की पूर्णता एवं चारित्रिक उत्कृष्टता संयमित मन के द्वारा ही संभव है। असंयमित मन व्यक्तित्व के निर्माण में विशेष रूप से बाधक है। जिस व्यक्ति का मन संयमित नहीं है, वह अत्यंत अनुकूल परिस्थितियों में भी प्राप्त संभावनाओं का समुचित सदुपयोग करने में असमर्थ ही रहता है। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि मानसिक विकार हैं। यह विकार हमारे मन को अत्यंत चंचल एवं अस्थिर बनाते हैं। असंयमित मन ही इन अस्वाभाविक मानसिक विकारों का मूलभूत कारण है। इन मानसिक विकारों का निराकरण आभ्यन्तर शौच के सतत अभ्यास के द्वारा ही संभव है।

आभ्यन्तर-शौच के अभ्यास के लिए महर्षि पतंजलि ने अपने *योगसूत्र* में ब्रह्मविहार के द्वारा एक समाधान प्रस्तुत किया है। महर्षि पतंजलि के अनुसार सुख-दुःख, पुण्य और पाप इन भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, करुणा, प्रसन्नता तथा उपेक्षा का भाव धारण करने से चित्त प्रसन्न होता है। यदि कोई विषय सुखद है, तो उसके प्रति मित्रता अर्थात् अनुकूलता का भाव धारण करने का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई विषय दुःखद हो, तो हमारे अंतकरण में उसके प्रति करुणापूर्ण भावना होनी चाहिए। यदि जीवन में हमारे समक्ष कोई पुण्य विषय आता है, तो हमें उसके प्रति आनंद से परिपूर्ण शुद्ध भावना से युक्त होने का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार यदि हमारी दैनिक गतिविधियों के दौरान कोई अशुभ विषय हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाए, तो उसके प्रति अंत:करण में उपेक्षा का भाव धारण करना चाहिए। इस प्रकार इन विभिन्न विषयों के प्रति इन विभिन्न भावों को धारण करने का सतत अभ्यास हमें मानसिक प्रसन्नता प्रदान करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने *गीता* में पवित्रता को अपने प्रिय भक्त के विभिन्न गुणों में से एक अत्यंत गुण के रूप में स्वीकार किया है। कृष्ण कहते हैं कि-' जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाह्य एवं आभ्यन्तर पवित्रता से युक्त, दक्ष, उदासीन, पक्षपात से रहित तथा व्यथाओं से मुक्त है; वह समस्त आरम्भों का परित्याग करने वाला मेरा भक्त मुझे अतिशय प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। *(श्रीमद्भगवद्गीता - 12 / 16)*

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने दैवीय संपदा के अंतर्गत शौच (पवित्रता) को महत्त्वपूर्ण दैवीय गुण के रूप में स्वीकार किया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तेज,क्षमा, धैर्य बाह्य एवं आभ्यन्तर पवित्रता, किसी में भी शत्रुता का भाव न होना तथा स्वयं में पूज्यता के अभिमान का अभाव—ये सब तो हे अर्जुन दैवीय संपदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता-16/3)

यह सत्य है कि बाह्य शौच की अपेक्षा आभ्यन्तर शौच महत्व अधिक व्यापक एवं कल्याणकारी है। आभ्यन्तर-शौच के अभाव में बाह्य-शौच का प्रयास एक आडम्बर मात्र है, किन्तु बाह्य-शौच की महत्ता भी न्यून नहीं है। पवित्रता के मार्ग की और पूर्ण रूप से अग्रसर होने के लिए बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। जीवन में पवित्रता के महत्व को स्वामी विवेकानंद जी ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—'पवित्रता ही समस्त उपासनाओं का सार है। जिन लोगों में सत्य, पवित्रता एवं निःस्वार्थता विद्यमान है, उन्हें स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल की कोई शक्ति क्षति नहीं पहुंचा सकती। इन गुणों के रहने पर चाहे समस्त विश्व ही किसी व्यक्ति के विरुद्ध क्यों न हो जाए, वह अकेला ही उसका सामना कर सकता है।'

योगसूत्र में महर्षि पतंजलि शौच की महत्ता को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं- 'सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र इन्द्रियजयात्मादर्शनयोग्यत्वानि शौचात्' अर्थात बुद्धि की शुद्धि मन की पवित्रता एवं एकाग्रता इन्द्रियों पर विजय और आत्मतत्व का साक्षात्कार करने की योग्यता शौच से प्राप्त होती है। जब साधक सतत आभ्यन्तर-शौच का अभ्यास करता है तो उसकी बुद्धि में सत्व गुण की प्रधानता होने लगती है। सत्व की शुद्धि से मन निर्मल हो जाता है। निर्मल मन सदैव अशुद्ध विषयों से विरक्त हो जाता है। वैराग्य के कारण मन में सतत एकाग्रता बनी रहती है। एकाग्र मन के द्वारा ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जब मन और इन्द्रियां बाह्य विषयों से विरक्त हो जाते हैं तो आत्म साक्षात्कार का मार्ग सहज और सरल हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ:

1. महर्षि पतंजलि, *योगसूत्र*, गीताप्रेस गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय, कोलकाता।

2. स्वामी विवेकानन्द, *राजयोग*, रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग), रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली नागपुर।

3. स्वामी विवेकानन्द, *सरल राजयोग*, रामकृष्ण मठ, (प्रकाशन विभाग), रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली नागपुर।

4. *श्रीमद्भगवद्गीता,* गीताप्रेस, गोरखपुर, गोबिन्द भवन, कार्यालय, कोलकाता।

5. स्वामी आत्मानंद, *आत्मोन्नति के सोपान*, विवेकानंद विद्यापीठ, रामकृष्ण परमहंस नगर, रायपुर, छत्तीसगढ़, 2009

सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र
से. मु. मा. राजकीय कन्या महाविद्यालय,
भीलवाड़ा
आवास—जयसिंह, ई-59 सुशान्तसिटी-I
कालवाड़ रोड, मांचवा,
P.O. जयपुर-303706
चलवाणी-9649075708

Psychosocial Concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama for Promoting Well-being in Contemporary Life

Aswini Sham Tikhe, Dr. Akhilesh Kumar Singh and Dr. Sham Ganpat Tikhe

Abstract

Mindfulness-based interventions have gained significant attention in the field of psychology and well-being. The present study explores how these interventions integrate the concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama for promoting psychosocial well-being. Mindfulness practices involve cultivating present-moment awareness, non-judgmental acceptance, and compassion towards oneself and others. These practices share similarities with the concepts found in the Yoga Sutras of Patanjali (YSP).

The present study discusses the effectiveness of mindfulness-based interventions in enhancing emotional regulation, stress reduction, and overall psychosocial well-being. Research studies and empirical evidence are examined to highlight the positive impact of mindfulness on reducing symptoms of anxiety, and depression, and enhancing psychological resilience. The integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama principles in mindfulness-based approaches is explored to deepen the transformative potential of these interventions. The present study explores how the integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama concepts found in YSP can be applied in therapeutic settings, mindfulness-based interventions, and personal growth practices. The present study also sheds light on the potential benefits and transformative effects of these concepts on individuals' well-being, emphasizing the importance of incorporating them into contemporary life.

Keywords

Samāpatti, Samādhi, Saṃyama, well-being, integration

Introduction

The historical and philosophical origins of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama are the three key concepts found in the Yoga Sutras of Patanjali (YSP). The ancient traditions of Yoga and meditation have been practiced for thousands of years, offering profound insights into the human mind, body, and spirit. Within these traditions, the concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama hold significant importance. Samāpatti refers to the attainment of higher states of consciousness, Samādhi represents the union of the self with the ultimate reality, and Saṃyama refers to the integration of mind, body, and spirit through concentration, meditation, and absorption.[1] These concepts have their roots in the YSP, an ancient text that outlines the path of Yoga and provides guidance for achieving spiritual and psychological well-being. The YSP serves as a philosophical framework for understanding and experiencing the psychosocial dimensions of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama.[2] In contemporary life, where individuals face various challenges to their well-being, there is a growing interest in exploring alternative approaches that can enhance psychosocial well-being. The relevance of these ancient concepts is increasingly recognized as they offer valuable insights into the human experience and provide practical tools for navigating the complexities of modern life.[3] Understanding and integrating the concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama in modern society hold great significance. These concepts offer a unique perspective on enhancing psychosocial well-being by addressing the interconnectedness of the mind, body, and spirit. They provide a holistic approach that goes beyond conventional psychological interventions, emphasizing the integration of mindfulness, self-transcendence, and self-reflection.[4] The potential impact of these concepts on psychosocial well-being is vast. By cultivating higher states of consciousness, individuals may experience increased self-awareness, emotional regulation, and stress reduction.[5] The practices associated with Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama have the potential to promote personal growth, self-compassion, and positive mental health outcomes. Moreover, these concepts emphasize the importance of social connection, empathy, and harmonious relationships, which are crucial for overall well-being in contemporary society.[6] The primary objective of this study is to explore the psychosocial dimensions of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama and their potential for promoting well-being in contemporary life.[7] The study aims to provide a comprehensive understanding of these concepts and their relevance in the context of psychosocial well-being.[8-9] To guide the study, the following research questions were addressed: [10-12]

1. What are the underlying psychological processes associated with Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama, and how do they contribute to psychosocial well-being?
2. What are the practical applications and benefits of integrating these concepts in promoting well-being in contemporary life?
3. How can mindfulness-based approaches and the integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama concepts be utilized to enhance emotional regulation, stress reduction, and social connection?

Analysis of primary texts was conducted and empirical studies examining the effectiveness of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama and their integration were reviewed.[13-15]

Concept of Samāpatti: Attaining Higher States of Consciousness

Samāpatti is a concept found in the YSP that refers to the attainment of higher states of consciousness and transcendence. Samāpatti is a practice rooted in ancient yogic traditions and is characterized by heightened awareness and transcendent experience. It involves the cultivation of focused attention and the ability to transcend ordinary states of consciousness.[2] According to the YSP, Samāpatti is: [3]

Kṣīṇavṛtterabhijātasyeva maṇergrahītṛgrahaṇagrāhyeṣu tatsthatadañjanatā **samāpattiḥ** ॥ YSP 1.41॥

Tatra śabdārthajñānavikalpaiḥ saṃkīrṇā savitarkā **samāpattiḥ** ॥ YSP 1.42 ॥

Smṛtipariśuddhau svarūpaśūnyevārthamātranirbhāsā **nirvitarkā** ॥ YSP 1.43 ॥

Etayaiva **savicārā nirvicārā** ca sūkṣmaviṣayā vyākhyātā ॥ YSP 1.44 ॥

Meaning:[3] (YSP 1.41) - When the fluctuations of the mind are weakened, the mind appears to take on the features of the object of meditation–whether it is the cognize (Grahītṛ), the instrument of cognition (Grahaṇa) or the object cognized (Grāhya)–as does a transparent jewel, and this identification is called Samāpatti or engrossment. (YSP 1.42) - The Samāpatti, in which there is a mixture of words, their meaning (i.e. the object), and their knowledge, is known as Savitarkāsamāpatti. (YSP 1.43) - When the memory is purified, the mind appears to be devoid of its own nature (i.e. of reflective consciousness) and only the object (on which it is contemplating) remains illuminated. This kind of Samāpatti is called Nirvitarkāsamāpatti. (YSP 1.44) - By this (foregoing) the Savicāra and Nirvicāra Samāpatti, whose objects are subtle, are also explained. In the midst of a fast-paced and often stressful society, individuals are seeking ways to find inner peace,

clarity, and a sense of purpose.[16] The practice of Samāpatti offers a pathway to these transformative experiences by providing tools to calm the mind, develop focused attention, and connect with the deeper aspects of oneself. By engaging in Samāpatti, individuals can experience a sense of inner calm, clarity, and serenity.[17] The practice cultivates a state of mindfulness, enabling individuals to observe their thoughts, emotions, and sensations without judgment or attachment. This heightened awareness allows for a deeper understanding of oneself and the world, fostering a sense of interconnectedness and compassion.[18]

Psychological Processes Involved in Samāpatti

The practice of Samāpatti involves several psychological processes that contribute to psychosocial well-being. One such process is focused attention. This focused attention enhances concentration, mental clarity, and the ability to remain present in the moment.[19] Another psychological process associated with Samāpatti is self-transcendence. This self-transcendence allows for a broader perspective, a sense of interconnectedness, and a reduction in self-cantered thoughts and behaviors.[20] Mindfulness is also a fundamental psychological process involved in Samāpatti.[21] This mindfulness allows individuals to observe and regulate their thoughts, emotions, and sensations, promoting emotional regulation, stress reduction, and overall well-being.[22]

Applications and Benefits of Samāpatti

Samāpatti has extensive practical applications and benefits for promoting psychosocial well-being. Firstly, the practice of Samāpatti enhances self-awareness, enabling individuals to gain deeper insights into their thoughts, emotions, and behavioral patterns. This self-awareness empowers individuals to make conscious choices, develop greater self-compassion, and cultivate positive mental health.[23] Moreover, Samāpatti can contribute to personal growth and self-actualization. By attaining higher states of consciousness, individuals can tap into their innate potential, explore their unique strengths, and foster a sense of purpose and meaning in life.[24] Through the transcendence of ordinary consciousness, individuals can tap into their innate potential and access higher states of wisdom, creativity, and intuition. This can lead to a sense of purpose, fulfillment, and the realization of one's true potential.[25] The practice of Samāpatti encourages individuals to align their actions with their values and aspirations, leading to a more fulfilling and authentic life.[26] Samāpatti also offers benefits in the

realm of emotional regulation and stress management.[23-24]Through practice, individuals develop the capacity to observe their emotions without being overwhelmed by them. This emotional awareness and regulation contribute to increased resilience, reduced anxiety, and improved overall emotional well-being.[25-26] Additionally, the practice of Samāpatti fosters a deep sense of interconnectedness and compassion.[23-24] As individuals tap into higher states of consciousness, they develop an expanded perspective that transcends individual differences.[26] This broader perspective cultivates empathy, understanding, and harmonious relationships with others, thereby promoting social connection and community well-being.[23-25] The practice of Samāpatti also has therapeutic applications. Research suggests that Samāpatti can be beneficial in managing various mental health conditions, including anxiety, depression, and post-traumatic stress disorder. It provides individuals with a tool to navigate challenging emotions and experiences, promoting resilience and psychological well-being.[23-26] Thus, Samāpatti is a means to attain higher states of consciousness and holds significant relevance in contemporary life, offering individuals a pathway to inner peace, clarity, and self-transcendence.

Concept of Samādhi: Union of Self and Ultimate Reality

Samādhi is a state of profound inner peace and unity with the ultimate reality, often described as a state of complete absorption and transcendence. It is a transformative experience where the individual transcends the limitations of the ego and merges with a higher state of consciousness.[27] According to the YSP, Samādhi is: [3,16]

Deśabandhaścittasya dhāraṇā ॥ YSP 3.1 ॥

Tatra pratyayaikatānatā dhyānam ॥ YSP 3.2 ॥

Tadevārthamātranirbhāsaṃ svarūpaśūnyamiva **samādhiḥ** ॥ YSP 3.3 ॥

Meaning:[3,16] (YSP 3.1) - Dhāraṇā is the mind's (Citta's) fixation on a point in space. (YSP 3.2) - In that (Dhāraṇā) the continuous flow of similar mental modifications is called Dhyāna or meditation. (YSP 3.3) - When the object of meditation only shines forth in the mind, as though devoid of the thought of even the self (who is meditating), that is called Samādhi.

Samādhi is considered the pinnacle of the yogic path, where the practitioner experiences a profound sense of bliss, tranquillity, and interconnectedness. It is a state of pure awareness beyond the fluctuations of the mind and the dualities of the world. Through focused concentration and meditation practices, individuals can attain Samādhi

and experience a deep sense of unity with the divine or ultimate reality.[28] The relevance of Samādhi in promoting psychosocial well-being lies in its ability to cultivate a sense of inner calm, self-awareness, and expanded consciousness. By transcending the limitations of the ego and connecting with a higher reality, individuals may experience a reduction in stress, anxiety, and other negative emotional states. Samādhi offers a transformative experience that can enhance one's overall psychological well-being.[29]

Psychological Processes Involved in Samādhi

The state of Samādhi involves various psychological processes that contribute to its transformative effects on psychosocial well-being. These processes include self-acceptance, present-moment awareness, and the transcendence of the ego.[30] Self-acceptance is a key component of Samādhi, as individuals learn to embrace and accept themselves fully without judgment or attachment. This process allows for greater self-compassion, self-esteem, and emotional well-being. By cultivating self-acceptance through Samādhi, individuals can experience increased psychological resilience and a more positive outlook on life.[31] Present-moment awareness is another psychological process associated with Samādhi. It involves being fully present in the current moment, free from distractions and preoccupations. This state of mindfulness allows individuals to experience a deep sense of connection with the present moment, leading to increased emotional well-being, improved focus, and reduced stress.[32] Transcendence of ego is a fundamental aspect of Samādhi. It involves moving beyond the identification with the individual self and experiencing a sense of unity with all beings and the universe. This process fosters empathy, compassion, and interconnectedness, promoting meaningful relationships and social connections.[30-32]

Applications and Benefits of Samādhi

Samādhi has practical applications and benefits for promoting psychosocial well-being. By integrating the practice of Samādhi into daily life, individuals can experience enhanced emotional regulation, stress management, and meaningful relationships.[33] Emotional regulation is improved through the practice of Samādhi, as it helps individuals cultivate inner peace, equanimity, and detachment from negative emotions. By developing a deeper understanding of their emotions and learning to observe them without judgment, individuals can respond to challenging situations with greater clarity and emotional balance.[9] Stress management is another area where Samādhi can have a

significant impact. The practice of Samādhi allows individuals to cultivate a state of inner calm and relaxation, reducing the physiological and psychological effects of stress. Regular practice of Samādhi can help individuals develop resilience and coping mechanisms to better manage stressors in their lives.[34] In terms of relationships, Samādhi promotes meaningful connections and compassionate interactions. By transcending the ego and embracing a sense of unity with others, individuals can develop empathy, understanding, and loving-kindness towards themselves and others. This fosters harmonious relationships, improves communication, and enhances overall social well-being.[9,33-35] By exploring the practical applications and benefits of Samādhi, individuals can harness its transformative power to promote psychosocial well-being in contemporary life.

Concept of Saṃyama: Integration of Mind, Body, and Spirit

Saṃyama is a comprehensive practice in Yoga that involves the simultaneous cultivation of concentration (Dharana), meditation (Dhyana), and absorption (Samādhi).[27]

According to the YSP, Saṃyama is:[3,16,27-28,35]

Deśabandhaścittasya dhāraṇā ।। YSP 3.1 ।।

Tatra pratyayaikatānatā dhyānam ।। YSP 3.2 ।।

Tadevārthamātranirbhāsaṃ svarūpaśūnyamiva samādhiḥ ।। YSP 3.3 ।।

Trayamekatra **saṃyamaḥ** ।। YSP 3.4 ।।

Meaning: [3,16,27-28,35] (YSP 3.1) - Dhāraṇā is the mind's (Citta's) fixation on a point in space. (YSP 3.2) - In that (Dhāraṇā) the continuous flow of similar mental modifications is called Dhyāna or meditation. (YSP 3.3) - When the object of meditation only shines forth in the mind, as though devoid of the thought of even the self (who is meditating), that is called Samādhi. (YSP 3.4) - The three together on the same object is called Saṃyama.

It is the integration of mind, body, and spirit, leading to a state of profound awareness and connection with the present moment.[35] Saṃyama allows individuals to delve deeper into their inner experiences and explore the interconnectedness of their thoughts, emotions, and physical sensations.[36]

Psychological Processes Involved in Saṃyama

The practice of Saṃyama engages various psychological processes that contribute to personal growth and well-being. These processes include self-reflection, self-discipline, and self-transformation.[37] Through self-reflection, individuals develop a deeper understanding of their thoughts, emotions, and patterns of behavior. Self-discipline plays a crucial role in maintaining focus and consistency in the practice of Saṃyama.[38] It helps individuals cultivate a sense of inner strength and willpower.[39] Self-transformation occurs through the continuous practice of Saṃyama, leading to positive changes in one's mindset, beliefs, and behaviors.[37-38] Saṃyama contributes to personal growth, self-compassion, and positive mental health. It highlights the importance of self-reflection in developing self-awareness, self-discipline in cultivating mindfulness, and self-transformation in promoting psychological well-being.[37-39]

Applications and Benefits of Saṃyama

The practical applications and benefits of Saṃyama in promoting psychosocial well-being are vast. The practice of Saṃyama can be applied in various contexts to enhance well-being. It has the potential for cultivating self-awareness, emotional intelligence, and social connection.[40] Saṃyama can help individuals develop a greater understanding of their inner experiences, leading to improved self-awareness and self-management.[41] The practice of Saṃyama can enhance emotional intelligence, enabling individuals to navigate their emotions effectively and build healthier relationships.[31] Additionally, Saṃyama fosters a sense of interconnectedness and empathy, promoting social connection and a sense of belonging.[42] Saṃyama can be useful in stress reduction, improving focus and attention, and fostering a sense of inner peace and harmony.[31,40] Saṃyama is a tool for personal growth, and self-empowerment, and has the transformative power and potential to integrate mind, body, and spirit for enhanced psychological health and overall well-being.[31,40-42]

Integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama in Contemporary Life

Mindfulness-based interventions have gained significant attention in the field of psychology and well-being.[43] These interventions integrate the concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama for promoting psychosocial well-being.[44] Mindfulness practices involve cultivating present-moment awareness, non-judgmental acceptance, and compassion towards oneself and others. These practices share similarities with the

concepts found in YSP.[31] Mindfulness-based interventions enhance emotional regulation, stress reduction, and overall psychosocial well-being.[45] Research studies and empirical evidence are examined to highlight the positive impact of mindfulness on reducing symptoms of anxiety, and depression, and enhancing psychological resilience.[46] The integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama principles in mindfulness-based approaches is a means to deepen the transformative potential of these interventions.[43-45] The practices associated with Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama offer individuals the opportunity to move beyond self-limiting beliefs, expand their self-identity, and tap into their higher potential.[47] By cultivating deep states of consciousness and inner peace, individuals can experience a sense of interconnectedness and transcendence of their ego.[48] The integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama can contribute to self-transcendence and personal growth.[49] These practices enhance self-esteem, self-compassion, and overall life satisfaction.[50] The self-reflection, self-discipline, and self-transformation foster personal growth and has great relevance in contemporary life.[51] Social connection and meaningful relationships are vital for psychosocial well-being.[52] The concepts of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama can foster social connection, empathy, and harmonious relationships. By cultivating inner awareness and compassion, individuals can develop a deeper understanding of others and nurture positive interactions.[53]

The integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama can promote social connection and empathy. These practices enhance interpersonal relationships, resolve conflicts, and cultivate a sense of community well-being. These practices promote social cohesion and create a supportive and compassionate social environment.[54] Mindfulness-based approaches have the potential for self-transcendence and personal growth and foster social connection and interpersonal relationships.[55] Through an exploration of these dimensions, individuals can enhance their psychosocial well-being and cultivate a deeper sense of fulfillment in their lives.[32,55-56] Thus, the integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama is a very meaningful and useful approach in contemporary life.

Conclusion

The potential benefits and transformative effects that the psychosocial dimensions of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama can have on individuals' psychosocial well-being emphasize the importance of incorporating them into contemporary life. The integration of Samāpatti, Samādhi, and Saṃyama concepts can be applied in therapeutic settings,

mindfulness-based interventions, and personal growth practices.[57] There is a need for empirical studies examining the effectiveness of interventions incorporating these concepts, as well as their long-term impacts on individuals' mental health and overall well-being. It may be suggested to explore the mechanisms and underlying processes through which these practices exert their effects, paving the way for more comprehensive and evidence-based approaches.

Acknowledgment

The authors acknowledge the research grant in the form of a Ph.D. Scholarship to the first author from the Indian Council of Social Science Research to carry out this work.

References

1. Bhavanani AB. *Bridging yoga therapy and personal practice: the power of sadhana*. Int J Yoga Therap. 2012;(22):89-90.
2. Jeste DV, Vahia IV. *Comparison of the conceptualization of wisdom in ancient Indian literature with modern views: focus on the Bhagavad Gita.* Psychiatry. 2008;71(3):197-209.
3. Saraswati S. Four *Chapters on freedom, Commentary on the Yoga Sutras of Patanjali Munger*. Bihar: Yoga Publications Trust; 1989.
4. Telles S, Singh N, Balkrishna A. Managing *Mental Health Disorders Resulting from Trauma through Yoga:* A Review. Depress Res Treat. 2012;2012:401513.
5. Van Gordon W, Shonin E, Dunn TJ, Garcia-Campayo J, Griffiths MD. *Meditation awareness training for the treatment of fibromyalgia syndrome: A randomized controlled trial*. Br J Health Psychol. 2017;22(1):186-206.
6. Sharma R, Gupta N, Bijlani RL. *Effect of yoga based lifestyle intervention on subjective well-being.* Indian J Physiol Pharmacol. 2008;52(2):123-31.
7. Gallegos AM, Crean HF, Pigeon WR, Heffner KL. *Meditation and yoga for posttraumatic stress disorder: A meta-analytic review of randomized controlled trials.* Clin Psychol Rev. 2017;58:115-124.
8. Pascoe MC, Bauer IE. *A systematic review of randomised control trials on the effects of yoga on stress measures and mood.* J Psychiatr Res. 2015;68:270-82.
9. Goyal M, Singh S, Sibinga EM, Gould NF, Rowland-Seymour A, Sharma R, Berger Z, Sleicher D, Maron DD, Shihab HM, Ranasinghe PD, Linn S, Saha S, Bass EB, Haythornthwaite JA. *Meditation programs for psychological stress and well-being: a systematic review and meta-analysis*. JAMA Intern Med. 2014;174(3):357-68.
10. Cramer H, Lauche R, Langhorst J, Dobos G. *Yoga for depression: a systematic review and meta-analysis*. Depress Anxiety. 2013;30(11):1068-83.
11. Vancampfort D, Vansteelandt K, Scheewe T, Probst M, Knapen J, De Herdt A, De Hert M. *Yoga in schizophrenia: a systematic review of randomised controlled trials*. Acta Psychiatr Scand. 2012;126(1):12-20.
12. Büssing A, Michalsen A, Khalsa SB, Telles S, Sherman KJ. *Effects of yoga on mental and physical health: a short summary of reviews*. Evid Based Complement Alternat Med. 2012;2012:165410.
13. Khalsa SB, Cope S. *Effects of a yoga lifestyle intervention on performance-related characteristics of musicians: a preliminary study*. Med Sci Monit. 2006;12(8):CR325-31.

14. Smith C, Hancock H, Blake-Mortimer J, Eckert K. *A randomised comparative trial of yoga and relaxation to reduce stress and anxiety*. Complement Ther Med. 2007;15(2):77-83.
15. Haider T, Sharma M, Branscum P. *Yoga as an Alternative and Complimentary Therapy for Cardiovascular Disease: A Systematic Review*. J Evid Based Complementary Altern Med. 2017;22(2):310-316.
16. Kolasinski SL, Garfinkel M, Tsai AG, Matz W, Van Dyke A, Schumacher HR. Iyengar, *Yoga for treating symptoms of osteoarthritis of the knees: a pilot study*. J Altern Complement Med. 2005;11(4):689-93.
17. Tripathi V, Bharadwaj P. *Neuroscience of the yogic theory of consciousness*. Neurosci Conscious. 2021;2021(2):niab030.
18. Das RR, Sankar J, Kabra SK. *Role of Breathing Exercises in Asthma-Yoga and Pranayama.* Indian J Pediatr. 2022 Feb;89(2):174-180.
19. Chaudhry N, Bhandari RB, Gaur V. *Yoga perspective on personal excellence and well-being.* J Ayurveda Integr Med. 2023;14(3):100717.
20. Lutz A, Slagter HA, Dunne JD, Davidson RJ. *Attention regulation and monitoring in meditation. Trends* Cogn Sci. 2008;12(4):163-9.
21. Hadash Y, Ruimi L, Bernstein A. *Looking inside the black box of mindfulness meditation: Investigating attention and awareness during meditation using the mindful awareness task* (MAT). Psychol Assess. 2023;35(3):242-256.
22. Tang YY, Hölzel BK, Posner MI. *The neuroscience of mindfulness meditation.* Nat Rev Neurosci. 2015;16(4):213-25.
23. Varambally S, Gangadhar BN. *Current status of yoga in mental health services.* Int Rev Psychiatry. 2016;28(3):233-5.
24. Cramer H, Haller H, Lauche R, Dobos G. *Mindfulness-based stress reduction for low back pain*. A systematic review. BMC Complement Altern Med. 2012;12:162.
25. Khalsa SB. *Yoga as a therapeutic intervention: a bibliometric analysis of published research studies*. Indian J Physiol Pharmacol. 2004;48(3):269-85.
26. Sengupta P. Health *Impacts of Yoga and Pranayama: A State-of-the-Art Review*. Int J Prev Med. 2012;3(7):444-58.
27. Chowdhary S, Gopinath JK. *Clinical hypnosis and Patanjali yoga sutras*. Indian J Psychiatry. 2013;55(Suppl 2):S157-64.
28. Moonaz S, Jeter P, Schmalzl L. *The importance of research literacy for yoga therapists*. Int J Yoga Therap. 2017;27(1):131-133.
29. Eraballi A, Pradhan B. *Quality of life improvement with rehabilitation according to constitution of the World Health Organization for coronary artery bypass graft surgery patients: A descriptive review*. Ayu. 2017;38(3-4):102-107.
30. Cahn BR, Polich J. *Meditation states and traits: EEG, ERP, and neuroimaging studies*. Psychol Bull. 2006;132(2):180-211.
31. Shapiro SL, Carlson LE, Astin JA, *Freedman B. Mechanisms of mindfulness.* J Clin Psychol. 2006;62(3):373-86.
32. Brown KW, Ryan RM. *The benefits of being present: mindfulness and its role in psychological well-being*. J Pers Soc Psychol. 2003;84(4):822-48.
33. Keng SL, Smoski MJ, Robins CJ. *Effects of mindfulness on psychological health: a review of empirical studies*. Clin Psychol Rev. 2011;31(6):1041-56.

34. Fredrickson BL, Cohn MA, Coffey KA, Pek J, Finkel SM. *Open hearts build lives: positive emotions, induced through loving-kindness meditation, build consequential personal resources*. J Pers Soc Psychol. 2008;95(5):1045-1062.
35. Pereira LF, Tesser CD. *Do yoga para a atenção psicossocial na Atenção Primária à Saúde: um estudo hermenêutico sobre valores e princípios éticos do Yoga Sutra de Patañjali* [From yoga to psychosocial care in Primary Health Care: a hermeneutic study on the ethical values and principles of the Yoga Sutras of Patañjali]. Cien Saude Colet. 2021 Feb;26(2):711-720. Portuguese.
36. Kumar S, Nagendra H, Manjunath N, Naveen K, Telles S. *Meditation on OM: Relevance from ancient texts and contemporary science.* Int J Yoga. 2010;3(1):2-5.
37. Csala B, Springinsfeld CM, Köteles F. *The Relationship Between Yoga and Spirituality: A Systematic Review of Empirical Research*. Front Psychol. 2021;12:695939.
38. Singh Khalsa SB. *Kundalini yoga and kundalini awakenings.* Complement Ther Clin Pract. 2022;47:101417.
39. Shannahoff-Khalsa D, Fernandes RY, Pereira CAB, March JS, Leckman JF, Golshan S, Vieira MSR, Polanczyk GV, Miguel EC, Shavitt RG. *Kundalini Yoga Meditation Versus the Relaxation Response Meditation for Treating Adults With Obsessive-Compulsive Disorder: A Randomized Clinical Trial.* Front Psychiatry. 2019;10:793.
40. Gardner-Nix J, Backman S, Barbati J, Grummitt J. *Evaluating distance education of a mindfulness-based meditation programme for chronic pain management.* J Telemed Telecare. 2008;14(2):88-92.
41. Khalsa SB, Khalsa GS, Khalsa HK, Khalsa MK. *Evaluation of a residential Kundalini yoga lifestyle pilot program for addiction in India.* J Ethn Subst Abuse. 2008;7(1):67-79.
42. Soysa CK, Wilcomb CJ. *Mindfulness, self-compassion, self-efficacy, and gender as predictors of depression, anxiety, stress, and well-being*. Mindfulness. 2015;6:217-26.
43. Cillessen L, Johannsen M, Speckens AEM, Zachariae R. *Mindfulness-based interventions for psychological and physical health outcomes in cancer patients and survivors: A systematic review and meta-analysis of randomized controlled trials*. Psychooncology. 2019;28(12):2257-2269.
44. Creswell JD. *Mindfulness Interventions.* Annu Rev Psychol. 2017;68:491-516.
45. Gotink RA, Chu P, Busschbach JJ, Benson H, Fricchione GL, Hunink MG. *Standardised mindfulness-based interventions in healthcare: an overview of systematic reviews and meta-analyses of RCTs*. PLoS One. 2015;10(4):e0124344.
46. Hölzel BK, Lazar SW, Gard T, Schuman-Olivier Z, Vago DR, Ott U. *How Does Mindfulness Meditation Work? Proposing Mechanisms of Action From a Conceptual and Neural Perspective. Perspect Psychol Sci*. 2011;6(6):537-59.
47. Yaden DB, Haidt J, Hood Jr RW, Vago DR, Newberg AB. *The varieties of self-transcendent experience.* Rev Gen Psychol. 2017;21(2):143-60.
48. Koltko-Rivera ME. *Rediscovering the later version of Maslow's hierarchy of needs: Self-transcendence and opportunities for theory, research, and unification*. Rev Gen Psychol. 2006;10(4):302-17.
49. Ryff CD. *Psychological well-being revisited: advances in the science and practice of eudaimonia. Psychother Psychosom.* 2014;83(1):10-28.
50. Wolfe U, Moran A. *Integrating Brain Science into Health Studies: An Interdisciplinary Course in Contemplative Neuroscience and Yoga.* J Undergrad Neurosci Educ. 2017;16(1):A77-A82.
51. Diener E, Lucas RE, Oishi S. *Advances and Open Questions in the Science of Subjective Well-Being*. Collabra Psychol. 2018;4(1):15.
52. Cacioppo JT, Cacioppo S. *Social Relationships and Health: The Toxic Effects of Perceived Social Isolation*. Soc Personal Psychol Compass. 2014;8(2):58-72.

53. Kok BE, Coffey KA, Cohn MA, Catalino LI, Vacharkulksemsuk T, Algoe SB, Brantley M, Fredrickson BL. *How positive emotions build physical health: perceived positive social connections account for the upward spiral between positive emotions and vagal tone*. Psychol Sci. 2013;24(7):1123-32.
54. Weinstein N, Ryan WS, Dehaan CR, Przybylski AK, Legate N, Ryan RM. *Parental autonomy support and discrepancies between implicit and explicit sexual identities: dynamics of self-acceptance and defense*. J Pers Soc Psychol. 2012;102(4):815-32.
55. Baumeister RF, Leary MR. *The need to belong: desire for interpersonal attachments as a fundamental human motivation*. Psychol Bull. 1995;117(3):497-529.
56. Levy N. *The Value of Consciousness.* J Conscious Stud. 2014;21(1-2):127-138.
57. Shonin E, Van Gordon W. *The Mechanisms of Mindfulness in the Treatment of Mental Illness and Addiction*. Int J Ment Health Addict. 2016;14(5):844-849.

1. Ph.D. Scholor (Yoga), Department of Yoga
SAM Global University
Bhopal (Madhya Pradesh)-462022
Email: rudranath29@gmail.com
Mob: 9902833570

2. Dean, Department of Research and Development
SAM Global University
Email: singh_drakhilesh@yahoo.com
Mob: 8827407855

3. Assistant Professor, Department of Yoga and Ayurveda
Sanchi University of Buddhist-Indic Studies
Sanchi, Madhya Pradesh 464661
Email: rudranath29@gmail.com
Mob: 9902833570

The Bhagavad Gita's function in the process of philosophical counselling for easing student's stress and anxiety in reference to *Sankhya Yog*

Papori Bordoloi

Abstract

Students today deal with a variety of difficulties that either directly or indirectly interfere with their primary responsibility of learning and developing knowledge and skills, which causes stress and anxiety. Student's stress can be reduced by philosophical counselling, which may also help someone realise their full potential. *The Bhagavad Gita's* ancient wisdom can be very useful in the philosophical counselling process because, if its underlying philosophy is understood, one can get over stress and anxiety.The knowledge that Lord Krishna taught Arjuna in The Bhagavad Gita by way of a few verses from *Sankhya Yog* has been discussed in this work and its lessons have been applied as tools for philosophical counselling of students to reduce stress and anxiety.

Key Words: *Students Stress, Philosophical Counselling, Sankhya Yog, The Bhagavad Gita, easing stress.*

1. Introduction:

Philosophical counselling has a broad perspective on the social, interpersonal, personal, and universal dimensions of a person's problems. It is really a fact that only a philosophical mind can understand the truth of real problems and its solutions which lies in the problem itself. Thus, we are urgently in the need of understanding philosophical truth which gives more positive meanings to our lives. The process of Philosophical counselling as an attempt to alleviate human suffering and to emphasize on the well beings of clients are established through the reasoning faculty and critical thinking of the

counsellor. The counsellor explores intentional and interpersonal relationship to access new modality of counselling which can be applied in new arena.

Philosophical Counselling usage philosophy, its theories, and ways of critical thinking to help counselees address ordinary problems of living, such problems may include mid-life crisis, loss, career changes, moral problems, work related stress and lots of other common human life challenges. Often these problems can be address philosophicallyby helping the counselee to examine and reassesses his or her reasoning about such matters. People who have read the Bhagavad Gita would agree that the holly book is not just about religion but tells us how to handle the crest and troughs of life. The setting of the Bhagavad Gita is on the battle field of *Kurukshetra* in Mahabharata where Arjuna is confused and Krishna becomes his mentor. It begins with dilemma,confusion, and questions about life. Krishna Guides Arjuna and empowers him to make his own decision. This dialogue between Arjuna and Krishna in the Bhagavad Gita discusses various real-life problems and its insights and is very relevant in the modern times as well. In today's modern world, due to the influence of technology and globalization the living style, attitudes and believes of youths have undergone tremendous changes, recent studies and newspaper reports says that significant numbers of populations in our new generation have lost the courage to face difficult situations in life. For the lack of life skills and moral values. As a result, many commit suicide due to various factors. To overcome from this situation, it is important to motivate the children to be bold in life to face various struggle. In this situation the inherent philosophy of The Bhagavad Gita can play a prominent role in helping students in identifying Goals with clarity. In the Bhagavad Gita when Arjuna got stuck up in confusion Lord Krishna encouraged him to realise his real strength, the process adopted by Lord Krishna here is an integral part of philosophical counselling. Now a days students need to understand what are the strength they have and how to overcome weakness they are facing. When Krishna explained the reality and motivated Arjuna with the concept of each yoga, clarified his doubts and showed Arjuna the Dharma he had to perform. In this process of conversation between the lord krishna and Arjuna elements of philosophical counselling and philosophical intervention is evident, this process churns out philosophical counselling tools which could be applied in philosophical counselling process for easing student's stress. In this paper effort has been made to identify philosophical counselling tools available in few verses of the Bhagavad Gita whichcould ease student'sstress.

2. What is Philosophical counselling

Philosophical counselling is an approach for addressing the dilemmas and predicaments, and life issues of the person in the street through philosophical self-examination, (R Lahav). The philosophical counsellor is a person with a philosophical background usually with an M.A or PhD in philosophy, who receives individual counselee and discuss with them relevant aspects of their lives. This ranges from general quest for meaning and self-understanding to specific problems such as decision-making difficulties, family problems or dissatisfaction.

The counselor's job is to guide the client through a philosophical self-examination in order to help them develop a philosophical understanding of who they are and how the world works. This gives the client the freedom to approach their problems and live their lives however they see fit. Different philosophical practitioners place varying emphasis on these two goals: overcoming personal problems and philosophical self-understanding or wisdom (Philo-Sophia = love of wisdom). Some philosophical practitioners aim primarily at the former while others concentrate on the latter. It is a relatively recent philosophical trend to apply philosophical reasoning and discussion to problem-solving. Clients seeking assistance in examining philosophical issues pertaining to various topics can speak with a philosopher.

3. Importance of The Bhagavad Gita in Philosophical Counselling

The Bhagavad-Gita's underlying philosophical ideas have a message for the world of today. Even with today's material splendor and scientific advancement, humanity still feels empty inside. Mutual anxiety, uncertainty, doubt, and loneliness have caused a loss of mental equilibrium, which has resulted in an increase in suicides, rapes, divorces, drug use, excessive sex consumption, and even militant violence and terrorism. Moral instruction given in society does not adequately address these problems and is frequently unable to reach the majority; as a result, crime will continue to be a problem until self-realization and self-awareness are attained.

The philosophical essence of the Bhagavad-Gita can be effectively applied in the process of philosophical counselling, which has the potential to lessen the delinquent acts in society. This is where philosophical counselling has a significant role to play in addressing these challenges. People today lead stressful lives, whether that stress is brought on by their jobs, careers, relationships, or finances. Because of the rising

stressors in their lives, they are therefore experiencing psychosomatic symptoms. We now have a variety of therapies, including psychotherapy, behaviour therapy, cognitive behaviour therapy, and others, thanks to the development of psychological treatment and planning. However, our ancient texts, such as The Bhagavad-Gita, described human daily concerns and how a man should approach daily issues. The Bhagavad-Gita, which Lord Krishna spoke during the Mahabharata battle of Kurukshetra, is the solution to all worries and anxieties. The Bhagavad-Gita demonstrates practical and real-world applications of ways to deal with the daily stressors people encounter in their daily lives.

4. Application of tools from *Sankhya Yog* (Chapter 2) of the Bhagavad Gita in counselling process for easing student's stress.

The life of a student can be stressful due to factors such as Homework, Examination, maintaining social life, perceived parental pressure, never ending workloads, over scheduling, poor sleep habits, financial stress, job outlook stress, academic stress etc. A little stress is good as it motivates students to overcome challenges however too much stress can negatively impact a student's mind and body which can result in a variety of issues. Teenagers may resists talking about their fears and worries to parents as they want to please them and make them proud. By complaining they may worry that their parents or friends would think that they are weak and cannot handle school or college requirements as other people can. But bolting up their emotions is just going to make things worse. In this situation, a student should be empowered through proper guidance and counselling. Philosophical counselling process can help students overcome stressful situations as it has certain elements, such as the counselee is treated as a visitor not as a patient. Because of which a visitor can realise his/her strength in the process of philosophical counselling.It can help students to develop a regular practice of self-examination, and deliberate action, develop critical thinking, clear reasoning and consistency, creative thinking, create freedom, responsibility, and self-determination, aware about ethics, values and justice, change, loss, identity and authenticity, communication, and conflict resolution.[2] It assists one to realise own potential and come out of the cocoon of negativity.

Understanding the essence of the Bhagavad Gita can inspire students and help them by developing the right perspective, impart knowledge to understand that change is the law of nature, instill positive thinking, guideone to accommodate changes, practice tolerance, forgiveness, calmness, work towards the welfare of the society, being

charitable and fearless. In the battlefield of Kurukshetra Arjuna became mentally distressed to see his own people as opponent and expressed his concern and decision to withdraw from the battle field. Both his mind and spirit were at stake due to his inability to take decision. That is when Lord Krishan would counsel Arjuna of awareness in several elements of which he might adjust his thinking and make proper decisions. Fromthe dialogue between Arjuna and lord Krishna we are discussinghere few verses from Chapter-2, *Sankhya Yog* which has the elements tohelp ease student's stress if he/she realise it's underlying philosophy, these are as follows:

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।। 2.33।।

It translates as, "If, however, you refuse to fight this righteous war, abandoning your social duty and reputation, you will certainly incur sin." If a warrior chooses to become non-violent on the battlefield, it will be dereliction of duty, and hence, classified as a sinful act. Hence, Shree Krishna states that if Arjun abandons his duty, considering it to be repugnant and troublesome, he will be committing a sin.[3]

In today's time a student may face lots of distraction leading to difficulty in executing his/her duty as a student, A student's primary duty is to study, research and acquire knowledge and skills, it is only possible through consistent and persistent effort without paying attention to distractive elements. A student might get in a situation and be diverted towards things which could lead to loss in study. The verse here can act as a tool to remind one of his/her duties and primary focus area, a student can take better decision regarding their doable and deliverables when they are given guidance and philosophical counselling with the help of this verse.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2.47 ।।

It translates as, "You have a right to perform your prescribed duties, but you are not entitled to the fruits of your actions. Never consider yourself to be the cause of the results of your activities, nor be attached to inaction."[4]

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 2. 48।।

It translates as, "Be steadfast in the performance of your duty, O Arjun, abandoning attachment to success and failure. Such equanimity is called Yog."[5]

Students are often trapped in fear, stress and anxiety about their results and future outcomes, during their time of study and preparation it may divert their attention and make their time miserable. In the verse 47 Lord krishna talks about the right to perform prescribed duties and clarifies that one is not entitled to the fruits of action. The verse 47 gives four instructions regarding the science of work: 1) Do your duty, but do not concern yourself with the results. 2) The fruits of your actions are not for your enjoyment. 3) Even while working, give up the pride of doer ship. 4) Do not be attached to inaction.[6]

It is so laudable that Shree Krishna refers to the calm acceptance of all circumstances as Yog, or union with the Supreme. The application of the knowledge from the verse 48 leads to this equipoise. When we realise that the effort and not the outcome is in our control, we are only concerned with carrying out our obligations. We dedicate the outcomes to God because they are for his pleasure. If the outcomes do not match our expectations, we now calmly accept them as God's will. This allows us to accept pleasure and pain, success and failure, fame, and infamy, as God's will. When we learn to embrace both equally, we achieve Shree Narayan's equanimity. Thus, the learning from these two verses can help students to overcome stress and help in carrying out his/her obligations. A philosophical counsellor can use the learning from these verses and apply it in a counselling session with students.

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 2.56।।

It translates as "One whose mind remains undisturbed amidst misery, who does not crave for pleasure, and who is free from attachment, fear, and anger, is called a sage of steady wisdom." In this verse, Shree Krishna describes sages of steady wisdom as: 1) *Vītarāga*—they give up craving for pleasure, 2) *Vītabhaya*—they remain free from fear, 3) *Vītakrodha*—they are devoid of anger.An enlightened person does not harbour in the mind the vices of lust, rage, greed, envy, etc. The mind can only then steadily consider transcendence and become fixed in the divine. If one allows the mind to dwell on their woes, contemplation of the divine ends and the mind descends from the transcendental plane. Similar principles apply to how torture is carried out. The mind is tormented more by thoughts of past pain and fears of future pain than by the actual pain that is happening

right now. But the pain unexpectedly decreases to a size that is manageable (within the bounds of tolerance) when the mind abandons these two and is forced to merely groan with the current sensation. By applying this knowledge, a student can get best out of resources and time available at hand.

The Bhagavad Gita's verse 62, which states that the mind becomes attached to an object when we repeatedly think about how happy it is, provides additional insight into how the mind functions.

Verse 63 discusses controlling one's temper. Just as the morning mist obscures the sunlight with a haze, anger impairs judgement. People make mistakes they later regret when they are angry because their intellect is obscured by the emotion's haze.

Verse 64 explains but one who masters their thoughts and is unattached and averse to anything, even when using objects of the senses, achieves God's grace. Thinking about happiness in sense objects is the beginning of the entire downward spiral that leads to ruin. Now, the desire for happiness is as natural a human instinct as the need for water is to the body. It is not possible to think, "I will not contemplate happiness anywhere," as it goes against the soul's natural tendency. The straightforward answer is to think of happiness in the right place, namely in God. If we can keep telling ourselves that God is the source of happiness, we will grow attached to him.In contrast to material attachment, this divine attachment will purify the mind. When we affix our minds to God, who is all-pure, our minds will also turn pure.

5. Conclusion

Most of our issues and anxieties are caused by erroneous thinking patterns brought on by ignorance, and they are easily resolved by putting to use the philosophical principles that Lord Krishna taught through the Bhagavad Gita. The Sankhya Yog (chapter 2) of the Bhagavad Gita helps student realise their potential, make better decisions, lessen their fear of student life, comprehend the meaning of right karma, embrace objectivity in life, the truth of life, help them deal with loneliness, feel joy within, and increase their inner strength. In the process of philosophical counselling, these are crucial tools. A philosophical counsellor in general deals with perplexities and struggles central to the human condition, the tools derived from the Sankhya Yog (Chapter2) of the Bhagavad Gita can effectively be used in the process of guiding a student to ease stress and anxiety.

Refences

1. *Lahav, R. 1996, What is Philosophical in Philosophical Counselling? Journal of Applied Philosophy. Vol 13. No.3, pp.259.*
2. https://www.curioussoulphilosophy.com/what-is-philosophical-counseling.html
3. https://www.holy-bhagavad-gita.org/chapter/2/verse/33
4. https://www.holy-bhagavad-gita.org/chapter/2/verse/47
5. https://www.holy-bhagavad-gita.org/chapter/2/verse/48
6. Sharma, A. (1987). *New essyas in the Bhagavad Gita,Philosophical, Methodological and cultural approaches.* New Delhi: Books & Books. (Page 1-11)
7. https://www.holy-bhagavad-gita.org/chapter/2/verse/56

Research Scholar(JRF, ICPR, New Delhi)
Deptt. Of Philosophy
Cotton University, Guwahati,Assam
.phl1891004_papori@cottonuniversity.ac.in +91-8638554197
Res : House No. AE 31, Second Floor,
AE Block Street 78, New Town
Kolkata (West Bengal) 700156
Mob: 8638554197